ॐ

श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीमन्मानतुंगाचार्यविरचित

श्रीआदिनाथस्तोत्र

अर्थात्

भक्तामरस्तोत्र ।

मोतीलाल
चौमूवाला.

जिसको

देवरी (सागर) निवासी श्रीनाथूरामप्रेमीने
सरल भाषाटीका और नवीन पद्यानुवाद-
सहित बनाया

और

मुम्बयीस्थ—जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालयके मालिकोने
निर्णयसागरप्रेसमें छपाकर प्रसिद्ध किया ।

श्रीवीर नि० स० २४३८ । मार्च सन् १९१२ ईस्वी ।

तृतीयावृत्तिः] [मूल्य ४ आने ।

Published by Shri Nathuram Premi, Proprietor-Shri
Jain-Grantha-Ratnakar Karyalaya, Hirabag,
Near C P. Tank.—Bombay.

Printed by B. R. Ghanekar at the N. S. Press, 23 Kolbhat
Lane, Kalbadevi Road, Bombay.

भूमिका।

भक्तामरस्तोत्रका परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है। जैनियोंमें शायद ही कोई ऐसा होगा, जो भक्तामरको न जानता हो। भक्तामर और सूत्रजीका (तत्त्वार्थका) पाठ किये विना सैकड़ो जैनी भोजन नहीं करते। जवतक जैनीका वालक "भक्तामर सूत्रजी" नहीं पढ़ लेता, तव तक वह पढा लिखा नहीं कहला सकता। इसीसे समझ लेना चाहिये, कि इस स्तोत्रका कितना माहात्म्य है? और लोग इसे कितनी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं? परन्तु खेद है कि, जिन अपूर्व अद्वितीय गुणोंके कारण[1] इस ग्रन्थका इतना माहात्म्य और प्रचारवाहुल्य है, अव हमारा समाज संस्कृत विद्याके अभावसे उन गुणोंके अभिज्ञानसे वंचित होता जाता है। वह यह नहीं जानता है, कि इसमें कौनसा अमृत भरा हुआ है, जिसे पान करके भिन्नधर्मी पंडितगण भी वारवार शिर सचालन करते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। संस्कृतानभिज्ञ लोगोंको उसी अपूर्व अमृतका आस्वादन करानेके लिये हमने यह ग्रन्थ तयार किया है।

देववाणी संस्कृतके पाठसे जो रसास्वाद तथा आनन्दानुभव होता है, वह हिन्दी भाषाके अनुवादमें ला देना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। तौ भी हमसे जहा तक वना है, इस वातका प्रयत्न किया है कि, मूलके किसी भी पदका भाव न रह जावे। हम समझते हैं कि, हमारी इस टीका तथा अनुवादसे भाषा रसिकजन उस

---

१ यथार्थमें इस स्तोत्रका नाम आदिनाथस्तोत्र है। परन्तु इसके प्रारभके भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्राभाणम् इस पाठमें भक्तामर ऐसा पद होनेसे इसका भक्तामरस्तोत्र नाम प्रचलित हो गया है। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी ऐसा देखा जाता है। सूक्तमुक्तावली सिन्दूरप्रकरके नामसे और पार्श्वनाथ-स्तोत्र कल्याणमन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार एकीभावस्तोत्र वगैरह भी प्रसिद्ध हैं। इन सव ग्रन्थोंके नाम प्रारभके पदके कारण ही पडे हैं।

आनन्दके वहुत कुछ अंशोंका अनुभवन करनेमें समर्थ हो सकेंगे, जिसके उपभोगके अधिकारी केवल संस्कृतज्ञ जन ही समझे जाते हैं।

जहां तक हमें मालूम है, इस पुण्यस्तोत्रकी अभी तक कोई भी ऐसी टीका प्रकाशित नहीं हुई थी, जिससे विद्यार्थी तथा सर्वसाधारणजन इसके मर्मको समझ सकें, और शायद ऐसी कोई टीका वनी भी नहीं है, जो वर्तमान समयके अनुसार सर्वप्रिय और सर्वोपयोगी हो। गुजराती अनुवादके साथ एक सज्जनने हिन्दी अर्थ छपवाया था। परन्तु वह केवल भावार्थ था, उसे टीका नहीं कह सकते। इसी त्रुटिकी पूर्तिके लिये हमने यह प्रयत्न किया है। इसमें हम कितनी सफलता प्राप्त कर सके हैं, इसका उत्तर हमारे चतुर विद्वान् पाठक दे सकेंगे।

एक वात पद्यानुवादके विपयमें कहना है। वह यह है कि, जव पंडित हेमराजजीका सुन्दर पद्यानुवाद उपस्थित था तव इसकी क्या आवश्यकता थी? शायद कोई सज्जन यह शंका करें, तो उसके उत्तरमें हम उन्हें श्रीअमितगत्याचार्यका यह श्लोक स्मरण कराते हैं.—

कृतिः पुराणा सुखदा न नूतना
न भाषणीयं वचनं वुधैरिदम्।
भवन्ति भव्यानि फलानि भूरिशो
न भूरुहां किं प्रसवप्रसूतितः॥

[धर्मपरीक्षा।]

अर्थात् "प्राचीन कविता ही सुखदायक होती है, नवीन नहीं" वुद्धिमानोंको यह वचन नहीं कहना चाहिये। वृक्षोंको प्रतिवर्ष नये नये फल आते हैं, तो क्या वे पहले वर्षोंके फलोंसरीखे श्रेष्ठ और मिष्ट नहीं होते?

सुनते हैं कि, भक्तामरस्तोत्रके कई पद्यानुवाद हो चुके हैं। परन्तु हमें सिवाय हेमराजजीके दूसरा कोई अनुवाद देखनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। प्राय सब जगह इसीका प्रचार अधिक है। दूसरे अनुवाद अप्रसिद्ध हैं, और शायद अच्छे भी नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि, हेमराजजीका अनुवाद बहुत सुन्दर प्रसादगुणयुक्त और श्रेष्ठ है, परन्तु वह एक स्वतंत्र अनुवाद है, उसमें भावमात्र ग्रहण किया गया है। प्रत्येक पद तथा शब्दकी ओर अनुवादक महाशयने लक्ष्य नहीं दिया है। उदाहरणके लिये सैंतीसवें श्लोकका अनुवाद देखिये,—

जैसी महिमा तुमविषै, और धरै नहिं कोय।
सूरजमें जो जोति है, तारनमें नहिं सोय॥ ३७॥

हेमराजजीके अनुवादके विषयमें हम एक बात और भी कहना चाहते हैं, वह यह कि, इस स्तोत्रके अनुवादके लिये चौपाई छन्द यथेष्ट नहीं है। छन्दकी संकीर्णताके कारण अनुवाद अनेक स्थानोंमें क्लिष्ट और भावच्युत हो गया है। अर्थबोध भी कहीं २ कठिनतासे होता है। जैसे;—

तुम गुनमहिमा हत-दुखदोष।
सो तो दूर रहो सुखपोष।
पापविनाशक है तुम नाम।
कमल विकासै ज्यों रविधाम॥ ९॥

इसमें मूलका वह भाव नहीं आ पाया, जो सबसे अधिक आनन्दजनक था। यहां हमारा आशय हेमराजजीके ग्रन्थकी निन्दा करनेका नहीं है किन्तु यह प्रगट करनेका है कि, उनका अनुवाद उत्तम होनेपर भी सम्पूर्ण नहीं है।

इन सब कारणोंसे हमारा बहुत दिनसे विचार था कि, एक ऐसा अनुवाद बनाया जावे, जो सर्वथा मूलका प्रतिरूप हो, साथ ही सरल सुखपाठ्य और शीघ्रार्थबोधक भी हो। हर्षकी बात है कि, आज उस विचारको हम कार्यमें परिणत करनेको समर्थ हुए हैं। यद्यपि हमने इसे सरल बनानेके लिये शक्तिभर प्रयत्न किया है। परन्तु संस्कृतके भाव ही कुछ ऐसे कठिन होते हैं, कि परिश्रम करनेपर भी हमारे अनुवादमें कई जगह काठिन्य आ गया है। पाठक इस अपराधके लिये हमें क्षमा करेंगे।

कविता कुछ हमारी ऐसी प्रसादजनक नहीं है, जिसके लिये हमें अपने इस अनुवादका गर्व हो; और पाठकोंसे आग्रह हो कि वे इसे पढे ही पढें। हमारा उद्देश्य केवल मूलके सम्पूर्ण भावोंको स्पष्ट करनेका है, और उसीके लिये हमारा यह प्रयत्न है। जो पाठक इसके अभिलाषी होंगे, उन्हें ही हमारा यह परिश्रम रुचिकर होगा, दूसरोंको नहीं।

इस ग्रन्थका शोधन अवलोकन करके हमारे जिन २ पंडित मित्रोंने हमको आभारी किया है, उन्हें हम अनेकानेक धन्यवाद देकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करते हैं।

देवरी (सागर)
ता० ११—५—०७

विद्वानोंका सेवक—
नाथूराम प्रेमी।

श्रीमन्मानतुङ्गसूरि।

उज्जयिनी नगरीके महाराजा भोजकी सभामें वड़े २ विद्वान् वाग्मी और कवि थे। उनमें एक वररुचि नामके पंडित भी थे। वररुचिके एक कन्या थी, जिसका नाम ब्रह्मदेवी था। जिस समय ब्रह्मदेवी यौवन-सम्पन्न हुई, उससमय पिताने पूछा–पुत्रि, अब तू विवाहके योग्य हुई है, कह, तुझे कैसा वर चाहिये? यह वात ब्रह्मदेवीको अच्छी नहीं लगी। उसने कहा, पिताजी, पुत्रीके सम्मुख आपको ऐसे लज्जाशून्यवचन नहीं कहना चाहिये। इस प्रश्नका उत्तर देना हम कुलीन कन्याओंका कर्म नहीं है। उच्चवंशकी कन्याये मर जातीं हैं, पर अपने मुखसे यह नहीं कहतीं। दूसरे यह सव भाग्यसे होता है, आपके कहने और करनेसे ही क्या? वररुचिका स्वभाव अतिशय क्रोधी था। पुत्रीकी इस धृष्टतासे वह आगववूला हो गया। और यह कहते हुए घरसे निकल पड़ा कि, देख, तुझे मै कैसे मूर्खके गले वाधता हूं। क्रोधमें विह्वल हुए वररुचिने सदसद्बुद्धिशून्य होकर अनेक नगर और ग्राम छान डाले, पर उन्हें अपनी अभिरुचिके अनुकूल कोई वर न मिला। आखिर एक स्थानमें देखा कि, एक मूर्ख वृक्षकी जिस डा-लपर वैठा है, उसीको काट रहा है। वररुचिको उसकी यह वुद्धिमानी वहुत रुची। उसने उसे नीचे उतारकर वातचीत की, तो मालूम हुआ कि, उसका नाम दुर्यश है, और जातिका भी ब्राह्मण है। जन्मके दरिद्री उस मूर्ख और कुरुप ब्राह्मणको पाकर वररुचि वहुत प्रसन्न हुआ। वह उसे किसी तरह फुसलाकर अपने घर ले आया और लड़कीके साम्हने खड़ा करके वोला–पुत्रि, यह तेरे योग्य वर हैं। ब्रह्मदेवी वोली–पिताने जिसे योग्य समझा है, वह स्वीकार है। जो मेरे भाग्यमें था, वह मिला। इसके पश्चात् शुभमुहूर्तमें ब्रह्मदेवीका विवाह दुर्यशके साथ कर दिया गया! विधिकी गति वड़ी दुर्लक्ष्य है। ब्रह्मदेवी जैसी विदुषी

रूपवती कन्याके लिये दुर्यश जैसे मूर्ख कुरूप पतिका मिलना, कर्मवैचित्र्य नहीं तो और क्या है ?

वररुचिने क्रोधान्ध होकर वह अनुचित कृत्य करते तो कर डाला, परन्तु पीछे वह पछताने लगा कि, हाय, मैंने यह अकार्य क्यों किया ? लोग मुझे क्या कहेंगे? क्योंकि वररुचिकी भोजके दरबारमे वडी भारी प्रतिष्ठा थी। इसलिये उसे सबसे वडी भारी चिन्ता यह हुई कि, महाराज सुनेंगे, तो दुर्यशको यह समझ कर अवश्य ही बुलावेंगे कि, वररुचिका जमाई कोई अश्रुतपूर्व विद्वान् होगा। परन्तु जब इसकी मूर्खता प्रगट होगी, तब मुझे कितना लज्जित होना पडेगा ? बहुत विचारके पश्चात् वररुचिने निश्चय किया कि, इसे पढाना चाहिये। परन्तु महीनों सिर खपाने पर भी उसे एक अक्षर नहीं आया। आखिर यह विचार छोडकर वररुचिने उसे केवल एक 'स्वस्त्यस्तु' का उच्चारण सिखलाना प्रारंभ किया। इसलिये कि, शायद कभी दरबारमें जाना पड़ेगा, तो महाराजको आशीर्वाद तो दे देगा।

पूरे एक वर्ष सिरपच्चीकरके वररुचिको एक दिन जमाई सहित दरबारमें जाना पड़ा। परन्तु वहा पहुंचते २ दुर्यश स्वस्त्यस्तु कहना भूल गया। और उसके स्थान में उशरट बोल उठा, जिसका कोई अर्थ नहीं होता था। इसे सुनकर सम्पूर्ण सभाके विद्वान् नाक भौंह सिकोडने लगे कि, यह क्या अपशब्द कहा ? तब विद्वान् वररुचिने अपनी बात जाती देखकर तत्काल ही कहा, कि-"यहा एक विद्वत्समूह बैठा हुआ है, उसे विचार करना चाहिये। और महाराजको स्वयं देखना चाहिये कि, मेरे जमाईने अयुक्त क्या कहा है ? यों विना सोचे विचारे एक विद्वान्‌के वाक्यको अपशब्द कह देना ठीक नहीं है।" यह सुनकर जब सभा थोडे समयके लिये स्तब्ध हो रही और किसीने कुछ उत्तर न दिया, तब वररुचि अपनी विद्वत्ता प्रकट करता हुआ बोला,-महाराज, उशरट शब्द स्वस्तिके समान ही आशीर्वादात्मक है। सो इस प्रकारसे कि, " उ=उमा,

पार्वती, श=शंकर-महादेव, ये र=रक्षा करें और ट=विजयके वाद्य टकार होते रहें।" इस अर्थको सुनकर महाराज भोज प्रसन्न हुए, और वररुचिको वहुतसा पारितोषिक देकर बोले,—क्यों न हो, तुम जैसे विद्वानोंका जामाता विद्वान् नहीं होगा, तो और किसका होगा? इसके पश्चात् सभाका विसर्जन हुआ। वररुचि जमाईको साथ लिये हुए घरको चले। मार्गमें उन्होंने क्रोधित होकर दुर्यशको चार छह लात घूसे लगाये, और कहा,—"रे शठ, वर्षभर पढाया, तो भी तू स्वस्त्यस्तु भूल गया। आज यदि मुझमें विद्वत्ता नहीं होती, तो तूने तो डुवो ही दी थी!"

इस मारका दुर्यशके हृदयपर वड़ा असर हुआ। श्वशुरके द्वारा ऐसा अपमान किसको सह्य हो सकता है? वह अपने जन्मको वार २ धिक्कारता हुआ उसी समय कालिकादेवीके मठमें पहुंचा और औंधे मुंह होकर द्वारपर यह कहते हुए पड गया कि,—"मात, या तो मुझे विद्या दे, अथवा मेरे प्राण ले ले।" सात दिवस इसी तरह विना अन्न जलके एक मात्र कालिकापर ध्यान लगाये हुए, जव वह पडा रहा, तव आठवे दिन कालिका प्रगट हुई और बोली,—"रे विप्र, मैं तुझपर प्रसन्न हुई? राजपाट भंडार जो कुछ चाहे, मै तुझे देती हूं।" दुर्यश वोला—"मै और कुछ नहीं, केवल वचनसिद्धि चाहता हू।" कालिकाने कहा,—अच्छा वत्स, जा तुझे वचनसिद्धि ही होगी। ससारमें तू कवि कालिदासके नामसे प्रगट होगा।" दुर्यश प्रसन्न होकर उठ वैठा, और अपने घरकी ओर चला। मठसे निकलते ही उसके मुंहसे श्लेपात्मक गंभीराशयसम्पन्न शब्द निकलने लगे। तव लोगोंको वड़ा आश्चर्य हुआ। पूछनेपर मालूम हुआ कि, यह सव कालिकाकी कृपा है। वररुचिने जव यह जाना, तव उसे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। साथ ही वह इसलिये लज्जित हुआ कि, मैंने जरासी जिद्दके कारण लड़कीको जन्मभरके लिये दु खी करना चाहा था। परन्तु सच है कि, "रेखपर मेख" नहीं मारी जाती।

कालिदासकी कीर्ति थोड़े ही समयमें चारों ओर फैल गई। समस्त

विद्वान् उसे मस्तक झुकाने लगे। एक दिन भोजकी सभामें कालिकाके साक्षात् दर्शन कराके तो उसने अपना प्रभाव और भी बढा लिया। महाराज भोजके हृदयमें उसके महत्त्वने भलीभाति स्थान पा लिया।

एक दिन उज्जयिनीके प्रसिद्ध सेठ सुदत्त अपने मनोहर नामके पुत्रको साथ लिये हुए भोजमहाराजकी सभामें गये थे। महाराजने कुशलमंगल पूछकर उन्हें आदरके साथ विठाया। और पूछा,—शेठजी, आपका यह वालक होनहार जान पड़ता है। आपने इसे कुछ पढाया भी है, या नहीं। शेठने कहा—महाराज, अभी इसका विद्यारंभ ही है। केवल नाममालाके श्लोक इसने कंठस्थ किये हैं। एक अश्रुतपूर्व ग्रन्थका नाम सुनकर भोजने पूछा,—नाममालाका नाम आज तक कहीं सुननेमे नहीं आया। क्या आपको मालूम है कि, वह किसकी वनाई हुई है? सुदत्त श्रेष्ठिने कहा,—महाराज आपके इसी नगरमे एक धनंजय नामके महाकवि रहते है, उन्हींकी वनाई हुई यह नाममाला है। इसपर भोजने सेठको उलाहना दिया कि, ऐसे बडे भारी विद्वान्को जानते हुए भी आपने हमसे कभी नहीं मिलाया, यह आपको नहीं चाहिये। कालिदास और धनंजयके वीचमें कुछ असमंजस था। इस लिये राजाके समीप धनंजयकी इतनी प्रशंसा उन्हें सहन नहीं हुई। वे वोले,—"महाराज, कहीं, यति महाजन भी वेद पढ़ते है। इन वेचारोंके पास विद्या कहासे आई? परन्तु महाराजको तो विद्वानोंसे मिलनेका एक व्यसन ही था, इसलिये उन्होंने यह सव सुनी अनसुनी कर दी, और अपने एक मंत्रीको धनंजयके लेनेके लिये भेज ही दिया। थोडी ही देरमें धनजय आ पहुंचे। उन्होंने एक आशीर्वादात्मक सुन्दर श्लोक पढकर सारी सभाको प्रसन्न कर दिया। महाराजने सत्कार करके विठाया और कुशल प्रश्नके अनन्तर पूछा,–"आपको एक विख्यात विद्वान् सुना है। परन्तु आश्चर्य है कि, आजतक हमसे आप नहीं मिले।" धनंजयने विहँसकर कहा,–"कृपानाथ, आप पृथ्वीपति हैं, जवतक पुण्यका प्रवल उदय न हो, तवतक आपके

दर्शनोंका लाभ कैसे हो सकता है ? आज मेरे अहोभाग्य हैं, जो मैं आपसे साक्षात्कार करके सफलमनोरथ हुआ।"

इसके पश्चात् महाराजने पूछा,—आपका नाम इतना बडा है, फिर यह छोटासा ग्रन्थ तो आपको नहीं शोभता। अवश्य ही आपने कोई महद्ग्रंथ बनाया होगा या बनानेका प्रारंभ किया होगा। इतना सुनकर कालिदाससे न रहा गया। वे बोले, "महाराज, यह नाममाला हम लोगोंकी है। इसका यथार्थ नाम नाममंजरी है। ब्राह्मण ही इसके बनानेवाले हो सकते हैं। ये बेचारे वणिक् लोग ग्रन्थोंके मर्मको क्या जानें ?" यह बात धनंजयको बहुत बुरी लगी। और लगना ही चाहिये। क्योंकि दिन दहाड़े उनकी एक कृतिपर हड़ताल फेरी जाती थी। उन्होंने कहा—"महाराज, यह सर्वथा झूठ है। मैंने ही यह ग्रन्थ बालकोंके बोधके लिये बनाया है। यह सब कोई जानते है। आप पुस्तक मंगाके देख लीजिये। जान पड़ता है, इन लोगोंने मेरा नाम लोप करके अपना नाम रख दिया है, और जबर्दस्ती नाममंजरी बना दी है।" यह सुनकर महाराजने ब्राह्मणोंसे कहा, "यह तुमने बड़ा अनर्थ किया, जो दूसरेकी कृतिको छुपाकर अपनी बना डाली। यह चोरी नहीं तो और क्या है ? इसपर ब्राह्मणोंकी ओरसे कालिदास बोले,—"महाराज, अभी कल तो ये धनंजय उस मानंतुगके पास विद्याभ्यास करते थे, जिसके पास विद्वत्ताकी गंध भी नहीं है। आज ये कहांसे विद्वान् हो गये, जो ग्रन्थ रचने लग गये। उस मानतुंगको ही बुलाके हमसे शास्त्रार्थ कराके देख लीजिये। इनके पाडित्यकी परीक्षा आप हो जावेगी।" गुरुदेवकी अवज्ञा धनंजयसे सुनी नहीं गई। वे कुपित होकर बोले—"कौन ऐसा विद्वान् हैं, जो गुरुजीके चरणोंमे विवाद कर सकता है। मै देखूं, तुममें कितना पाडित्य है ? पहले मुझसे शास्त्रार्थ कर लो, तब गुरुदेवका नाम लेना।" बस, इसके पश्चात् ही कालिदास और धनंजयका शास्त्रार्थ होने लगा। विविध विषयोंमें वादविवाद हुआ। धनजयके स्याद्वादमय वादसे अनेक वार निरुत्तर होकर कालिदास खिसिया गये और राजासे वही बात फिर बोले कि,—"मैं इनके गुरु मानंतुगसे शास्त्रार्थ करूंगा।" यद्यपि महाराज भोज 'धनंजयका पक्ष प्रबल है,' यह जान चुके थे, परन्तु कालिदासके

संतोषके लिये और शास्त्रार्थका कौतुक देखनेके लिये उन्होंने श्रीमानतुंग-मुनि महाराजके निकट अपना दूत बुलानेके लिये भेज दिया। राजाज्ञा-के अनुसार उसने मुनिमहाराजसे निवदेन किया कि,–" भगवन्, मालवा-धीश महाराज भोजने आपकी ख्याति सुनकर दर्शनोंकी अभिलाषा की है, और दरवारमे वुलाया है, सो कृपाकरके चलिये।" मुनिराजने कहा–" भाई, राजद्वारसे हमारा क्या प्रयोजन है? हम खेती नहीं करते हैं, वाणिज्य नहीं करते हैं, किसी प्रकारकी किसीसे याचना नहीं करते हैं, फिर राजा हमें क्यों वुलावेगा?" मुनिराजने जो उत्तर दिया था, दूतने महाराजसे जा कहा। इसपर राजाने फिर सेवक भेजे, परन्तु फिर भी वे नहीं आये। इस प्रकार चार चार वार सेवक भेजे, परन्तु मुनिराजने उसीप्रकारका उत्तर दिया, जैसा कि पहले दिया था। पाचवीं वार कालिदासके उसकानेसे महाराजको क्रोध आ गया। इसलिये उन्होंने सेवकोंको दरवारमें आज्ञा दे दी कि,–" उन्हें जिसतरह हो, पकडके ले आओ।" कई वारके भटके हुए सेवक यह चाहते ही थे। तत्काल ही उन्हें पकड लाये और सभामें लाके खडे कर दिये। उस समय उपसर्ग समझके मुनिराजने मौन धारण करके साम्यभावका अवलम्वन कर लिया। राजाने वहुत चाहा कि, थे कुछ वोलें, परन्तु उनके मुंहसे एक अक्षर भी नहीं निकला। तव कालिदास तथा अन्य विद्वेषी ब्राह्मण वोले कि–" महाराज, यह कर्णाटक देशसे निकाला हुआ यहा आ रहा है। महामूर्ख है, राजसभा देखके भयभीत हो गया है, इससे नहीं वोलता है।" इसपर वहुत लोगोंने मुनिराजसे प्रार्थना की कि, " आप साधु हैं। इस समय आपको कुछ धर्मोपदेश देना चाहिये। राजा विद्याभिलासी है, सुनकर सतुष्ट होंगे।" परन्तु मुनिराज पंचपरमेष्ठीके ध्यानमें अडोल हो रहे। सव लोग कहकहके थक गये, परन्तु कुछ फल नहीं हुआ। इसपर राजाने क्रोधित होकर उन्हें अड़तालीस कोठरियोंके भीतर एक वंदीगृहमें हथ-कडी वेडी डालकर कैद कर दिया। प्रत्येक कोठड़ीके द्वारपर एक एक मजवूत ताला जड़कर वाहर पहरेदार वैठा दिये। मुनिराज उस स्थानमें तीन दिन तक कैद रहे। चौथे दिन यह आदिनाथस्तोत्र नामका काव्य रचकर, जो कि यंत्र मंत्र ऋद्धिसे गर्भित है, ज्यों ही उन्होंने एक वार पाठ किया,

त्यों ही हथकड़ी बेड़ी सहित सब ताले टूट गये । और खट खट किवाड़ खुल गये । मुनिराज बाहर निकलकर द्वारके चबूतरेपर आ विराजे । बेचारे पहरेदारोंको बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने बिना किसीके कुछ कहे सुने, फिर उसी तरह मुनिराजको कैद कर दिया । परन्तु थोडी ही देरमें फिर वही दशा हुई । मुनीश फिर बाहर आ विराजे । अबकी बार सेवकोंने राजासे जाके मुनिराजके बंधनरहित होनेकी खबर सुनाई । राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ । परन्तु पीछे यह सोचके कि शायद कुछ रक्षामें प्रमाद हुआ होगा, सेवकोंसे फिर कहा कि, उन्हें फिर उसी तरह कैद कर दो, और सख्त पहरा रक्खो । सेवकोंने वैसा ही किया, परन्तु थोडी ही देरमें वही बात हुई और मुनिराज बाहर निकल आये । अबकी बार वे वहासे सीधे राजसभामें जा पहुचे । उनके दिव्यशरीरके प्रभावसे राजाका हृदय काप गया । उन्होंने कालिदासको बुलाकर कहा,-" कविराज, मेरा आसन कम्पित हो रहा है, इसका कुछ यत्न करो । मैं अब इस सिंहासनपर क्षणभर भी नहीं ठहर सकता हू ।" कालिदास महाराजको धैर्य देकर उसी समय योगासन लगा कर बैठ गये और कालिकाका स्तोत्र पढ़ने लगे । थोडे ही समयमें कालिका-देवी साक्षात् प्रगट हुई । साथ ही मुनिराजके समीप चक्रेश्वरीने दर्शन दिये । राजसभा चक्रेश्वरीका भव्य-सौम्य और कालिकाका विकराल-चंडरूप देखकर चकित हो गई । चक्रेश्वरीने ललकारके कहा कि—कालिके, तू यहा क्यों आई ? क्या अब तूने मुनिमहात्माओंको उपसर्ग करनेकी ठानी है ? अच्छा देख, मैं अब तेरी कैसी दशा करती हूं । कालिका प्रभावशालिनी चक्रेश्वरीको देखते ही डर गई, और नानाप्रकारसे स्तुति करके कहने लगी कि-अब मैं ऐसा कृत्य कभी न करूंगी । चक्रेश्वरीने इसपर कालिकाको बहुतसा उपदेश दिया और हिंसा छोड़कर अहिंसारूप प्रवृत्ति करनेकी प्रतिज्ञा कराई । इसके पश्चात् कालिका मुनिराजसे क्षमा मागकर लोप हो गई । राजा और कालिदासादिकने भी मुनिराजका प्रभाव देखकर क्षमा मांगी तथा नानाप्रकारसे स्तुति की । और राजाने तो मुनिमहाराजसे श्रावकके व्रत लेकर जैनधर्मका प्रभाव ससारमें व्याप्त कर दिया । चक्रेश्वरीदेवी उपसर्ग निवारण करके अदृश हो गई ।

यह कथा श्रीमूलसंघाम्नायी भट्टारक श्रीजगद्भूपणके शिष्य भट्टारक श्रीविश्वभूपणकृत संस्कृतटीकाके चरित्रके आधारसे लिखी गई है।

इससे सिद्ध होता है कि, मानतुंगसूरि धनंजय तथा महाराज भोजके समकालीन थे और उज्जयिनीके राजा भोजका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिका पूर्वार्ध निश्चित हो चुका है। इस हिसावसे मानतुंगसूरिका समय ईस्वी सन् १००० के ऊपर सिद्ध होता है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे अभीतक यह समय विश्वासके योग्य नहीं है। क्योंकि एक तो मानतुंगके विपयमें दिगम्वर-सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें ही दो तीन प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं तथा एक कथा श्वेताम्वरसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भी मिलती है और ये सव ही कथाएँ एक दूसरेसे नहीं मिलती हैं–जुदे २ विद्वानोंके साथ मानतुंगकी समकालीनता स्थिर करती हैं। दूसरे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सिरोहीका इतिहास' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि, भक्तामरस्तोत्रके कर्त्ता मानतुंगसूरि महाराज श्रीहर्षके समयमें हुए है और श्रीहर्षका राज्याभिषेक ईस्वीसन् ६०७ में (वि० सं० ६६४) हुआ हैं। अर्थात् ओझाजीके मतसे भोजसे ४०० वर्ष पहिले मानतुंगका समय निश्चित होता है। तीसरे भक्तामरकी सस्कृत टीकाके कर्त्ता श्रीप्रभाचन्द्रसूरि लिखते हैं कि—," मानतुंगसूरि पहिले बौद्ध धर्मके उपासक थे पीछे जैनधर्ममें उन्हें विश्वास हो गया था। जिनदीक्षा ले चुकनेपर उन्होंने अपने गुरुकी आज्ञासे यह आदिनाथस्तोत्र बनाया था। अर्थात् प्रभाचंद्रके मतसे राजा भोजके वंधनोंसे मुक्त होनेके लिये इस स्तोत्रकी रचना नहीं हुई थी। इस तरह मानतुंगसूरिका इतिहास और समय वहुत वडे अधकारमें छुपा हुआ है और विना वडे भारी परिश्रमके उसका पता लगना कठिन है, तो भी हम भट्टारक विश्वभूषणकी उक्त कथाको इसलिये प्रकाशित कर देते हैं कि, वह वालकोंके लिये मनोरंजक और प्राभाविक होगी। इसके सिवाय अन्य कथाओंकी अपेक्षा इसका प्रचार भी अधिक है।

---

१ श्वेताम्वरसम्प्रदायमें भी भक्तामरस्तोत्रका प्रचार अधिकतासे है। परन्तु उसमें इसके ४८ के स्थानमें ४० ही श्लोक माने जाते हैं। मानतुगसूरिको श्वेताम्वरी भाई श्वेताम्वराचार्य मानते हैं। सुना है श्वेताम्वरसम्प्रदायका कोई ग्रन्थ भी मानतुंगाचार्यका वनाया हुआ है। २ ये सोनागिरकी गद्दीके अधिकारी थे।

ॐ

नमो वीतरागाय ।

श्रीमन्मानतुङ्गसूरिविरचित

आदिनाथस्तोत्र ।

भाषाटीका तथा पद्यानुवादसहित ।

वसन्ततिलकावृत्तम् ।

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्द्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले[1] पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्ज्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

[युग्मम्[2]]

---

१ "भवनिधौ" ऐसा भी पाठ है । २ सस्कृतमे कहीं २ एकसे अधिक अनेक श्लोकोका इकट्ठा अन्वय होता है । जहा दो श्लोकोंका एकत्र अन्वय हो, उसे युग्म कहते हैं । यहा भी युग्म है ।

हरिगीतिका छंद ।

जो सुरनके नत मुकुटमनिकी, प्रभाको परकाशते ।
पुनि पापरूपी प्रबल अतिशय, तिमिर[1]पुंज विनाशते ॥
अरु जो परे भवजल दियो, अवलम्ब तिनहिं युगादिमें
जिनदेवके तिन चरनजुगको, नमन करके आदिमें—॥१॥
मैं शक्तिहीन हु करहुं थुति, अचरज वड़ो सुखकारिनी ।
तिन प्रथम जिनकी परमपावन, अरु भवोदधितारिनी ॥
जिनकी त्रिजगजनमनहरन वर, विशद विरद सुहाइ है॥
हरिने[2] सकल[3]श्रुततत्त्व-बोध–प्रसूत-बुधिसों गाइ है ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—(भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्)भक्तिमान् देवोंके झुके हुए मुकुटोंकी जो मणियाँ है, उनकी प्रभाको (उद्योतकं) प्रकाशित करनेवाले, (दलितपापतमोवितानं) पापरूपी अंधकारके समूहको नष्ट करनेवाले और (भवजले) संसारसमुद्रमें (पततां) पड़ते हुए (जनानां) मनुष्योंको (युगादौ) युगकी अर्थात् चौथेकालकी आदिमें (आलम्बनं) सहारा देनेवाले, (जिनपादयुगं) श्रीजिनदेवके चरणयुगलोंको (सम्यक्) भलीभांति (प्रणम्य) प्रणाम करकेः—॥ १ ॥ (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणीका रहस्य जाननेसे (उद्भूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई जो बुद्धि, उससे प्रवीण ऐसे (सुरलोकनाथैः) देवलोकके स्वामी इन्द्रोंने (जगत्त्रितयचित्तहरैः)

---

१ अंधकारके समूहको । २ इन्द्रने । ३ सम्पूर्ण द्वादशागसे उत्पन्न हुई चतुर बुद्धिके द्वारा । ४ अर्थात् देवोंके मुकुट आपके चरणोंकी प्रभासे और भी अधिक दीप्तिमान् होते हैं ।

तीन जगतके चित्त हरण करनेवाले (उदारैः) महान् (स्तोत्रैः) स्तोत्रोंके द्वारा (यः संस्तुतः) जिसकी स्तुति की, (तं) उस (प्रथमं जिनेन्द्रं) प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेवका (किल)[1]आश्चर्य है कि (अहम् अपि) मैं भी (स्तोष्ये) स्तवन करता हूं ।

भावार्थः—जिसकी स्तुति द्वादशांग वाणीके ज्ञाता इन्द्रोंने वड़े २ विशाल स्तोत्रोंके द्वारा की है, उसी आदिनाथ भगवान्का मैं स्तोत्र करना प्रारंभ करता हूं, यह वड़ा आश्चर्य है ।

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ[2]
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥२॥

हे अमरपूजितपद तिहारी, थुति[3] करनके काज मैं ।
बुधिविना ही अति ढीट ह्वै कै, भयउ उद्यत आज मैं ॥
जलमें पर्यौ प्रतिबिम्ब शशिको, देख सहसा चावसों ॥
तजिकै शिशुनकों[4] को सुजन जन, गहन चाहै भावसों[5] ॥२॥

अन्वयार्थौ—(विबुधार्चितपादपीठ) देवोंने जिसके सिंहासनकी पूजा की है, ऐसे हे जिनेन्द्र ! (बुद्ध्या विना) बुद्धिके

---

१ "किल" शब्दका यह अभिप्राय श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकी संस्कृतटीकासे ग्रहण किया गया है । २ "विबुधार्चितपादपीठम्" ऐसा भी पाठ है । ३ स्तुति । ४ बालकोंको । ५ वस्तुपनेसे ।

विना (अपि) ही (विगतत्रपः) लज्जारहित जो (अहम्) मैं (स्तोतुं) आपका स्तवन करनेको (समुद्यतमतिः) उद्यतमति हुआ हूं अर्थात् तत्पर हुआ हूं, सो ठीक है। क्योंकि (वालं विहाय) वालकके सिवाय (अन्यः) अन्य (कः) कौन (जनः) मनुष्य ऐसा है, जो (जलसंस्थितम्) जलमें दिखाई देने वाले (इन्दुविम्बं) चन्द्रमाके प्रतिविम्बको (सहसा) एकाएक (ग्रहीतुम्) पकड़नेके लिये (इच्छति) इच्छा करता है ?

भावार्थः—जैसे मूर्ख वालक जलमें पड़ी हुई चन्द्रमाकी छायाको पकड़ना चाहता है, उसी प्रकार मैं भी आपका स्तोत्र करनेके लिये तयार हुआ हूं, जो कि अतिशय कठिन है ॥ ३ ॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र शशाङ्ककान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि वुद्ध्या ।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं
को वा तरीतुमलमम्वुनिधिं भुजाभ्याम् ॥

हे गुणनिधे, शशिसम समुज्ज्वल, कहन तुव गुनगनकथा॥
सुरगुरु[1]नके सम हू गुनी जन, हैं न समरथ सर्वथा ॥
जामें प्रलयके पवनसों, उछरत प्रवल जलजंतु[2] हैं ।
तिहिं जलधि कहँ निज भुजनसों, तिर सकैं को वलवंतु हैं॥४॥

अन्वयार्थौ—(गुणसमुद्र) हे गुणोंके समुद्र (ते) तुम्हारे (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमाकी कान्ति जैसे उज्ज्वल (गुणान्)

---

१ इन्द्र के समान वुद्धिमान् । २ मगरमच्छ आदि जलचर जीव ।

गुणोंके (वक्तुं) कहनेको (बुद्ध्या) बुद्धिसे (सुरगुरुप्रतिमः अपि) इन्द्रके समान भी (कः) कौन पुरुष ऐसा है, जो (क्षमः)समर्थ हो ? क्योंकि (कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं) प्रलयकालकी आंधीसे उछलते है मगर मच्छोंके समूह जिसमे, ऐसे (अम्बुनिधिं) समुद्रको (भुजाभ्याम्) भुजाओंसे (तरीतुम् तैरनेको (को वा) कौन पुरुष (अलम्) समर्थ हो सकता है ? कोई भी नही ।

भावार्थः—जैसे प्रलयकालके भयानक दुस्तर समुद्रको कोई भुजाओंसे नही तैर सकता है, उसी प्रकार मै भी आपके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हू ॥ ४ ॥

सोऽहं तथापि तवभक्तिवशान्मुनीश
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं
नाऽभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥

मुनिनाथ, मैं उद्यत भयउ जो, विरद पावन गानकों ।
सो एक तुव पदभक्तिके वश, भूलि निजबलज्ञानकों ॥
ज्यों प्रीतिवश निजबल विचारे,-विन स्वेवत्स बचाइवे ।
अतिदीन हरिनी सिंहके, डरपै न सनमुख जाइवे॥५॥

अन्वयार्थौ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश्वर मै स्तोत्र करनेमें असमर्थ हू, (तथापि) तौ भी (तव भक्तिवशात्) तुम्हारी

---

१ स्तोत्र अथवा स्तुति । २ अपने बच्चेके ।

भक्तिके वशसे (विगतशक्तिः) शक्तिरहित (अपि) भी (सः अहं) वह बुद्धिहीन मै (स्तवं कर्तुं) आपका स्तवन करनेके लिये (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ हूं । सो ठीक ही है, क्योंकि (मृगः) हरिण (प्रीत्या) प्रीतिके वशसे (आत्मवीर्यं) अपने पराक्रमको (अविचार्य) विना विचारे ही (निजशिशोः) अपने बच्चेकी (परिपालनार्थम्) रक्षाके अर्थ (किं) क्या (मृगेन्द्रं) सिंहको (न अभ्येति) नही प्राप्त होता है? अर्थात् उसके सम्मुख लड़नेके लिये क्या नहीं दौड़ता है?

भावार्थः—जैसे हरिण अपने बच्चेको सिहके पंजेमें फँसा देखकर उसकी प्रीतिके वशसे यद्यपि सिंहको जीत नही सकता है, तौ भी साम्हने लड़नेको दौड़ता है। उसी प्रकार मुझमें शक्ति नही है, तौ भी भक्तिके वशसे आपका स्तोत्र करनेके लिये तत्पर होता हूं। अर्थात् इस स्तोत्रके करनेमें आपकी भक्ति ही कारण है, मेरी शक्ति वा प्रतिभा नही ॥ ५ ॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥ ६ ॥

अल्पज्ञ अरु ज्ञानीजननके, हासको सुनिवास मैं ।
तुव भक्ति ही मुहि करत चंचल, इहि पुनीत[1]-प्रयासमैं ॥
मधुमासमें जो मधुर गायन, करत कोइल प्रेमसों ।
सो नव रसालनकी ललित कलिकानिके वश नेमसों ॥ ६ ॥

---

[1] पवित्र कार्यमे ।

अन्वयार्थौ—(अल्पश्रुतं) थोडा है शास्त्रज्ञान जिसको ऐसे और (श्रुतवतां) शास्त्रके ज्ञाता पुरुषोंके (परिहासधाम) हँसीके स्थान ऐसे (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः) तुम्हारी भक्ति (एव) ही (वलात्) वलपूर्वक (मुखरीकुरुते) वाचाल करती है । क्योंकि (कोकिलः) कोयल (किल) निश्चयसे (मधौ) [1]वसन्त ऋतुमें (यत्) जो (मधुरं विरौति) मधुर शब्द करती है, (तत् चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः) सो उसमें सुन्दर आम्रवृक्षोंके मौरका (मंजरीका) समूह ही एक कारण है ।

भावार्थः—कोयलकी यदि स्वयं बोलनेकी शक्ति होती, तो वह वसन्त ऋतुके सिवाय दूसरी ऋतुओंमें भी बोलती । परन्तु वह, जव वसंतमें आमोंके मौर आते है, तव ही मीठी वाणी बोलती है । इससे सिद्ध है कि, उसके बोलनेमें एक मौर ही कारण है । इसीप्रकार मुझमें स्वयं शक्ति नही है, परन्तु आपकी भक्ति मुझे स्तोत्र करनेके लिये चंचल करती है । इससे इस स्तोत्रकी रचनामें आपकी भक्ति ही एक कारण है ॥ ६ ॥

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥ ७ ॥

जो जगतजीवनके पुरातन, पाप भवभवके जुरे ।
सो होंहिं छय तुव विरद गायें, एक छिनमें [2]आतुरे ॥

---

1 चैत वैशाख दो महीने वसन्त ऋतुके है । 2 शीघ्र ।

ज्यों जगतव्यापी भ्रमरसम तम, नीलतम[1] निशिसमयको।
ततकाल ही दिनकरकिरनसों, प्राप्त होवहि विलयको॥ ७॥

अन्वयार्थौ—(आक्रान्तलोकम्) जिसने लोकको ढक लिया है, और जो (अलिनीलम्[2]) भ्रमरके समान काला है, ऐसे (शार्वरम्) रात्रिके (अशेषम्) सम्पूर्ण (अन्धकारम्) अंधकारको (आशु) शीघ्रतासे (सूर्यांशुभिन्नम्) जैसे सूर्यकी किरणें नष्ट कर देती है, उसी प्रकार हे भगवन्! (त्वत्संस्तवेन) तुम्हारे स्तवनसे (शरीरभाजाम्) जीवधारियोंके (भवसन्ततिसन्निबद्धं) जन्मजरामरणरूप संसारपरम्परासे बँधा हुआ (पापं) पाप (क्षणात्) क्षणभरमें (क्षयम्) नाशको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थः—जैसे अंधकारको सूर्य मिटा देता है, उसी प्रकार आपके स्तोत्रसे जीवोंके पाप क्षय हो जाते है॥ ७॥

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव[3] प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः॥ ८॥

जिनराज अस जिय जानिकै, यह आपकी विरदावली[4]।
थोरी समझ मेरी तऊ, प्रारंभ करत उतावली॥

---

१ अत्यन्त नीला (काला) २ कहीं कहीं नीले रंगमें कालेका उपचार किया जाता है। ३ "तत् प्रसादात्" भी पाठ है। ४ स्तोत्रमाला।

हरि है सुमन सो सज्जननके, प्रभु-प्रभूत-प्रभावसों ।
जलविन्दु जैसे जलजदल परि, दिपत मुकताभावसों ॥८॥

अन्वयार्थौ—(नाथ) हे नाथ (इति मत्वा) इस प्रकार पापका नाश करनेवाला मनाकर (तनुधिया अपि मया) थोड़ी सी बुद्धिवाला हूं, तौ भी मेरे द्वारा (इदम्) यह (तव) तुम्हारा (संस्तवनं) स्तोत्र (आरभ्यते) आरंभ किया जाता है । सो (तव) तुम्हारे (प्रभावात्) प्रभावसे (सतां) सज्जन पुरुषोंके (चेतः) चित्तको (हरिष्यति) हरण करेगा । जैसे कि (नलिनीदलेषु) कमलिनीके पत्तोंपर (उदबिन्दुः) पानीका बिन्दु (ननु) निश्चयसे (मुक्ताफलद्युतिम्) मुक्ताफलकी शोभाको (उपैति) प्राप्त होता है ।

भावार्थः—जैसे कमलिनीके पत्तोंपर साधारण जलके बिन्दु भी उन पत्तोंके प्रभावसे मोती सरीखे जान पड़ते है, उसी प्रकार यह स्तोत्र यद्यपि अच्छा नहीं है, परन्तु आपके प्रभावसे सज्जनोंके चित्तको अवश्य हरेगा । अर्थात् उत्कृष्ट काव्योंकी श्रेणीमें गिना जावेगा ॥ ८ ॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥ ९ ॥

---

१ आपके प्रभावसे । २ दुर्जनोंको तो अच्छेसे अच्छा भी काव्य बुरा लगता है, इसलिये यहा सज्जन विशेषण दिया है ।

सब दोषरहित जिनेश तेरो, विरद तो दूरहि रहै ।
तुव कथा ही इहि जगतके सब, पापपुंजनको दहै ॥
सूरज रहत है दूर ही पै, तासुकी किरनावली ।
[१]सरवरनमें परि करत है, प्रमुदित सकल कुमुदावली॥९॥

अन्वयार्थौ—(सहस्रकिरणः) सूर्य तो (दूरे) दूर ही रहो, (प्रभा एव) उसकी प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालावोंमें जैसे (जलजानि)कमलोंको (विकाशभाञ्जि)प्रकाशमान् (कुरुते) कर देती है, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र, (अस्तसमस्तदोषं) अस्त हो गये है, समस्त दोष जिसके अर्थात् दोषरहित ऐसा (तव) तुम्हारा (स्तवनं दूरे आस्तां) स्तोत्र तो दूर ही रहे, (त्वत्संकथा अपि) तुम्हारी इस भव तथा परभवसम्बन्धी उत्तम कथा ही (जगतां) जगतके जीवोंके (दुरितानि) पापोंको (हन्ति) नाश करती है।

भावार्थः—सूर्यके उदयसे पहले जो उसकी प्रभा फैलती है, उससे ही जब कमल फूल उठते है, तब सूर्यके उदयसे कमल फूलेंगे, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसी प्रकार आपकी कथा सुननेसे ही जब पाप नष्ट हो जाते है, तब आपके स्तोत्रसे तो होवेगे ही। इसमें कुछ सन्देह नही है। सारांश यह कि, आपका यह स्तोत्र पापोंका नाश करनेवाला होगा ॥ ९ ॥

[२]नात्यद्भुतं भुवनभूषणभूत नाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।

---

१ तालावोंके वीचमे पड़के। २ "अत्यद्भुतं" भी पाठ है, जो "भवन्तम्" का विशेषण होता है।

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥१०॥

हे भुवनभूषनरूप प्रभु, इहिमें न कछु अचरज रहा।
जो सत्यगुनगायक तिहारे, होंहिं तुव सम नर महा॥
स्वाश्रित जननको स्वामि जो, अपनी प्रभूत विभूतिसों।
नहिं करत आप समान ताकी, कहा वहु करतूतिसों॥१०॥

अन्वयार्थौ—(भुवनभूषनभूत) हे जगत्के भूषणरूप भगवन् (भुवि) संसारमें (भूतैः गुणैः) सत्य तथा समीचीन गुणोंकरके (भवन्तम्) आपको (अभिष्टुवन्तः) स्तवन करनेवाले पुरुष (भवतः) आपके ही (तुल्याः) समान (भवन्ति) होते है। सो इसमें (अति अद्भुतं न) अधिक आश्चर्य नही है। (ननु) क्योंकि (नाथ) हे नाथ, (यः) जो कोई स्वामी (इह) इस लोकमें (आश्रितं) अपने आश्रित पुरुषको (भूत्या) विभूतिकरके (आत्मसमं) अपने समान (न करोति) नही करता है, (तेन) उस स्वामी करके (किं वा) क्या लाभ ?

भावार्थ—हे भगवन्, जिसप्रकार उदारस्वामीका सेवक कालान्तरमें धनादिसे सहायता पा करके अपने स्वामीके समान

---

१ भक्तजन। २ कोई २ " भुवनभूषण " और "भूतनाथ" ऐसे दो सम्बोधन करके " हे भुवनके भूषण " और "हे जीवोके नाथ" अर्थ करते हैं।

धनवान् हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी आपका स्तवन करके आपके समान तीर्थंकर नामकर्मका उपार्जन कर सकता हूं॥ १०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्॥११॥

अनिमेष नित्य विलोकनीय, जिनेश तुमहिं विलोकके।
पुनि और ठौर न तोष पावहिं, जननयन इहि लोकके॥
शशिप्रभाके सम नीर पीकर, क्षीरनिधिको भावनो।
को पियन चाहत सरितपतिको, क्षारजल असुहावनो॥

अन्वयार्थौ—हे भगवन् (अनिमेषविलोकनीयं) अनिमेष अर्थात् टिमकाररहित नेत्रोंसे सदा देखने योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकरके (जनस्य) मनुष्योंके (चक्षुः) नेत्र (अन्यत्र) दूसरोंमें अर्थात् हरिहरादि देवोंमें (तोषम्) संतोषको (न उपयाति) नही प्राप्त होते है। सो ठीक ही है, क्योकि (शशि-करद्युतिदुग्धसिन्धोः) चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल है शोभा जिसकी, ऐसे क्षीर समुद्रके (पयः) जलको (पीत्वा) पी करके (कः) ऐसा कौन पुरुष है, जो (जलनिधेः) समुद्रके

---

१ टिमकाररहित नेत्रोंसे। २ चन्द्रमाकी प्रभाके समान उज्ज्वल। ३ समुद्रका। ४ यद्यपि चक्षुः पद और उपयाति क्रिया दोनों एकवचन हैं, परन्तु जातिकी अपेक्षा होनेसे यहां बहुवचनमें अर्थ किय गया है।

(क्षारं जलं) खारे पानीको (रसितुं) पीनेकी (इच्छेत्) इच्छा करता है ?

भावार्थ—जैसे क्षीरसमुद्रके जलको पीनेवाला फिर खारे पानीके पीनेकी इच्छा नहीं करता है, उसी प्रकार जो आपके दर्शन करलेता है, उसे फिर दूसरे देवोंके देखनेसे सतोष नही होता ॥ ११ ॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

त्रिभुवनशिरोभूषण, अनूपम, शान्तभावनसों भरे ।
जिन रुचिर शुचि परमानुवनसों, आप वनिकै अवतरे ॥
ते अनु हते जगमें तिते ही, जानि मुहि ऐसी परै ।
जातै अपूरव आप जैसो, रूप नहिं कहुं लखि परै ॥ १२ ॥

अन्वयार्थौ—(त्रिभुवनैकललामभूत) हे तीन लोकके एक शिरोभूषणभूत (यैः) जिन (शान्तरागरुचिभिः) शान्त भावोंकी छायारूप (परमाणुभिः) परमाणुओसे (त्वं) तुम (निर्मापितः) बनाये गये हो, (खलु) निश्चय करके (ते) वे (अणवः) परमाणु (अपि) भी (तावन्त एव) उतने ही

---

१ सुन्दर । २ पवित्र । ३ क्योंकि (हेतु) । ४ "शिरःपुरो न्यस्तमस्तकाभरणं ललाममुच्यते ।" सिरके आगे मस्तकके आभरणको ललाम कहते हैं ।

थे। (यत्) क्योंकि (ते समानम्) तुम्हारे समान (रूपम्) रूप (पृथिव्यां) पृथिवीमें (अपरं) दूसरा (न हि) नही (अस्ति) है।

भावार्थः—हे भगवन्, आपके शरीरकी रचना जिन पुद्गल परमाणुओंसे हुई है, वे परमाणु संसारमें उतने ही थे। क्योंकि यदि वे परमाणु अधिक होते, तो आप जैसा रूप औरोंका भी दिखलाई देता। परन्तु यथार्थमें आपके समान रूपवान् पृथिवीमें कोई दूसरा नही है॥ १२ ॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्॥१३॥

कहँ सुरउरगनर–नयन–आनँद,–करन तुव मुखचंद है।
तिहुँलोक उपमावृन्द जिहिंके, होत सनमुख मंद है॥
अरु कहां शशिको मलिन बिम्ब, कलंकवारो दाससो।
जो होत दिनके होत ही, छबि–हीन श्वेत पलासस[1]ो॥१३॥

अन्वयार्थौ—हे नाथ, (सुरनरोरगनेत्रहारि) देव, मनुष्य, और नागोंके नेत्रोंको हरणकरनेवाला तथा (निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्) जीती है तीन लोकके कमल, चन्द्रमा, दर्पण आदि सब ही उपमाएँ जिसने ऐसा, (क्व) कहां तो (ते) तुम्हारा (वक्त्रं) मुख और (क्व) कहां (निशाकरस्य) चन्द्रमाका

---

१ टेसू अर्थात् ढाकके पत्ते जैसा।

(कलङ्कमलिनं) कलंकसे मलिन रहनेवाला (बिम्बं) मंडल, (यत्) जो कि (वासरे) दिनमें (पाण्डुपलाशकल्पम्) पलाशके अर्थात् ढाकके पत्तेके समान सफेद (भवति) होता है ।

भावार्थः—आपके सदा प्रकाशमान निष्कलंक मुखको चन्द्रमाकी उपमा नहीं दी जा सकती है । क्योंकि चन्द्र कलंकी है और दिनको ढाकके पत्ते जैसा प्रभाहीन हो जाता है ॥ १३ ॥

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

हे त्रिजगपति, पूरन निशापतिकी, कला ज्यों ऊजेरे[1] ।
गुनगन तिहारे विमल अतिशय, भुवन तीनहुंमें भरे ॥
आश्रय अपूरव एकजगके, नाथको जिनने लियो ।
चाहे जहां विचरैं तिनहिं, है रोकिवे किहको हियो ॥ १४ ॥

अन्वयार्थौ—(त्रिजगदीश्वर) हे तीन जगतके ईश्वर, (तव) तुम्हारे (सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्रा गुणाः) पूर्णिमाके चन्द्रमंडलकी कलाओं सरीखे उज्ज्वल गुण (त्रिभुवनं) तीन भुवनको (लङ्घयन्ति) उलंघन करते हैं अर्थात् तीनों लोकोंमें व्याप्त है । क्योंकि (ये) जो गुण (एकं) एक अर्थात् अद्वितीय (नाथम्) तीन लोकके नाथको (संश्रिताः) आश्रय करके रहे हैं,

---

1 उज्ज्वल ।

(तान्) उन्हें (यथेष्टम्) स्वेच्छानुसार (संचरतः) सब जगह विचरण करनेसे (कः) कौन पुरुष (निवारयति) निवारण कर सकता है—रोक सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

भावार्थः—जिन उत्तम गुणोंने आपका आश्रय लिया है, वे गुण जहा तहां इच्छापूर्वक गमन करते हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता है । क्योंकि वे आप जैसे तीनलोकके नाथके आश्रित है । और इसी कारण अर्थात् उन गुणोंके सर्वत्र विचरनेसे तीनलोक उन्हींसे व्याप्त हो रहा है ॥ १४ ॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥१५

अचरज कहो इहिमें कहा, तुव अचल मनको मदछकीं ।
जो सुघर सुरवनिता न तनिक हु, सुपथसों च्युत कर सकीं ॥
जिहिनें चलाये अचल[1] ऐसो, प्रलयको मारुत[2] महा ।
गिरिराज मंदरशिखरहूकहँ[3], सो चलाय सकै कहा ?॥ १५॥

अन्वयार्थौ—हे प्रभो, (यदि) यदि (त्रिदशाङ्गनाभिः) देवांगनाओंकरके (ते) तुम्हारा (मनः) मन (मनाक् अपि) किंचित् भी (विकारमार्गम्) विकारमार्गको (न नीतं) नहीं प्राप्त हुआ, तो (अत्र) इसमें (किम्) क्या (चित्रं) आश्चर्य है ?

---

१ पर्वत । २ पवन । ३ सुमेरु पर्वतके शिखरको ।

(किं) क्या (कदाचित्) कभी (चलिताचलेन) कम्पित किये है पर्वत जिसने ऐसे (कल्पान्तकालमरुता) प्रलयकालके पवनसे (मन्दराद्रिशिखरं) सुमेरु पर्वतका शिखर (चलितं) चलायमान् हो सकता है ? कभी नही ।

भावार्थः—[1]प्रलयकालकी हवासे सब पर्वत चलायमान् हो जाते है, परन्तु सुमेरुपर्वत किंचित् भी चलायमान् नही होता है । इसी प्रकार यद्यपि देवागनाओंने सम्पूर्ण ही ब्रह्मादिक देवोंके चित्त चलायमान् कर दिये, परन्तु आपका चित्त रंचमात्र भी विकारयुक्त नही हुआ ॥ १५ ॥

निर्द्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः॥१६॥

नहिं मेल बाती तेलको, नहिं नेकु जामें धूम हू ।
अरु करत है परगट निरंतर, जो जगत ये तीन हू ॥
जापै पवनबल चलत नहिं, चल करत जो गिरिवर अहो! ।
हे नाथ, तुम ऐसे अपूरव, जगप्रकाशक दीप हो ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ—(नाथ) हे नाथ, (त्वं) तुम (निर्द्धूमवर्त्तिः) धूम तथा वातीरहित, (अपवर्जिततैलपूरः) तैलके पूररहित,

---

१ प्रलयकालकी हवा ऐसी भयानक होती है कि, उससे बड़े २ पर्वत चल जाते हैं, एक सुमेरुपर्वत ही उस समय अचल रहता है ।

और जो (चलिताचलानां) पर्वतोंके चलायमान करने वाले (मरुतां) पवनके (जातु न गम्यः) कदाचित् भी गम्य नही है, ऐसे (जगत्प्रकाशः) जगतके प्रकाशित करनेवाले (अपरः) अद्वितीय, विलक्षण (दीपः) दीपक (असि) हो । क्यों कि आप (इदं) इस (कृत्स्नं) समस्त (जगत्त्रयम्) सप्ततत्त्व नव पदार्थरूप तीन जगतको (प्रकटीकरोषि) प्रकट करते हैं ।

भावार्थः—ससारमें जो दीपक दिखाई देते हैं, उनमें धुआं और वत्ती होती है, परन्तु आपमें वह (द्वेषरूपी धुआं और कामकी दशअवस्थारूप वत्ती) नही है । दीपकोंमें तेल होता है, आपमें तैल अर्थात् स्नेह (राग) नही है। दीपक जरासी हवाके झोकेसे वुझ जाता है, आप प्रलयकालकी हवासे भी चलित नही होते है । और दीपक एक घरको प्रकाशित करता है, आप तीन जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं । इस प्रकार आप जगत्के प्रकाश करनेवाले एक अपूर्व दीपक हो ॥ १६ ॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके १७

छितितैं[1] छुपत[2] नहिं छिनहु[3], छाया राहुकी नहिं परत है ।
तिहुं जगतको जुगपत[4] सहज ही, जो प्रकाशित करत है ॥

---

१ पृथ्वीसे । २ अस्त होता है । ३ क्षणभरके लिये भी । ४ एक ही समयमें ।

धारांधरनके उदरमें परि, जिहि प्रभाव न घटत है।
यों मुनिप, जग महिमा तिहारी, भानुहूतैं महत है॥१७॥

अन्वयार्थौं—आप (न कदाचित्) न तो कभी (अस्तं) अस्तको (उपयासि) प्राप्त होते हो, (न राहुगम्यः) न राहुके गम्य हो, अर्थात् न आपको राहु ग्रसता है और (न) न (अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः) बादलोंके उदरसे आपका महाप्रताप रुकता है और (युगपत्) एक समयमें (सहसा) सहज ही (जगन्ति) तीनों जगत्को आप (स्पष्टीकरोषि) प्रगट करते हो। इस प्रकारसे (मुनीन्द्र) हे मुनीन्द्र, (लोके) लोकमें आप (सूर्यातिशायिमहिमा असि) सूर्यकी महिमाको भी उल्लंघन करनेवाली महिमाके धारण करनेवाले हो।

भावार्थः—सूर्य संध्याको अस्त हो जाता है, आप सदाकाल प्रकाशित रहते है। सूर्य एक जम्बूद्वीपको ही प्रकाशित करता है, आप तीन जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करते है। सूर्यको राहुका ग्रहण लगता है, आपको किसी प्रकारके दुष्कृत प्राप्त नहीं होते। सूर्यका प्रताप मेघ ढक लेते है आपका प्रताप मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलादि ज्ञानावरणीय कर्मोंके आवरणसे रहित है। इस प्रकारसे हे मुनिनाथ, आप सूर्यसे भी बड़े सूर्य है॥ १७॥

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।

---

१ बादलोंके। २ हे मुनिराज,।

विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥ १८ ॥

जो उदयरूप रहै सदा, पुनि मोहको तम हनत है ।
मुख राहुके न परै कबहुँ, जिहिको न वारिद[1] ढकत है ॥
हे नाथ, सो मुखकमल तुव, धारत प्रकाश अमंद[2] है ।
सोहत जगत उद्योतकारी अति अपूरब चंद है ॥ १८ ॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो (नित्योदयं) सदा उदयरूप रहता है, जो (दलितमोहमहान्धकारं) मोह अंधकारको नष्ट करता है, (न राहुवदनस्य) न राहुके मुखके (गम्यं) गम्य है, और (न वारिदानाम्) न बादलोंके गम्य है, अर्थात् जिसे न तो राहु ग्रसता है, और न बादल ढकते है । और जो (जगत्) जगत्को (विद्योतयत्) प्रकाशित करता है, ऐसा हे भगवन्, (तव) तुम्हारा (अनल्पकान्ति) अधिक कान्तिवाला (मुखाब्जम्) मुखकमल (अपूर्वशशाङ्कबिम्बम्) विलक्षण चन्द्रमाके बिम्बरूप (विभ्राजते) शोभित होता है ।

भावार्थः—आपका मुखकमल एक विलक्षण चन्द्रमा है । क्यों कि चन्द्रमा केवल रात्रिमें उदित होता है, परन्तु आपका मुख सदा उदयरूप रहता है । चन्द्रमा साधारण अंधकारका नाश करता है, परन्तु आपका मुख अज्ञान अथवा मोहनीयकर्मरूप महाअंधकारको नष्ट करता है । चन्द्रमाको राहु ग्रसता है, बादल

---

१ बादल । २ मन्द नहीं, अर्थात् अधिक प्रकाशमान् ।

छुपा लेने है, परन्तु आपके मुखको ढकनेवाला कोई नहीं है। चन्द्रमा पृथ्वीके कुछ भागको प्रकाशित करता है, परन्तु आपका मुख तीन जगतको प्रकाशित करता है। चन्द्रमा थोड़ी कान्ति-वाला है, परन्तु आपके मुखकी अनन्त काति है॥ १८॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥ १९ ॥

हे नाथ, यदि तुव तमहरन वर, मुखमयंक अमंद है।
तौ व्यर्थ ही सूरज दिवसमें, और निशिमें चंद है॥
चहुँओर शोभित शालिके, बहु बननसों जो है रहो।
जलभरे मेघनसों कहा, तिहि देशमें कारज कहो॥ १९॥

अन्वयार्थौ—(नाथ) हे नाथ, (युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु) आपके मुखरूपी चन्द्रमाकरके अधकारके नष्ट हो जाने-पर (शर्वरीषु) रात्रियोंमें (शशिना) चन्द्रमाकरके (वा) अथवा (अह्नि) दिनमें (विवस्वता) सूर्यकरके (किं) क्या ? भला ! (जीवलोके निष्पन्नशालिवनशालिनि) जीवलोकमें अर्थात् देशमें धान्यके खेतोंके पक चुकने पर (जलभारनम्रैः) पानीके भारसे झुके हुए (जलधरैः) बादलोकरके (कियत् कार्यं) क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थः—जिस प्रकारसे पके हुए धान्यवाले देशमें बादलोंका बरसना व्यर्थ है, क्योंकि उस जलसे कीचड़ होनेके सिवाय और कुछ लाभ नहीं होता; उसी प्रकारसे जहां आपके मुखरूपी चन्द्रमासे अज्ञान अन्धकारका नाश हो चुका है, वहां रात्रि और दिनमें चन्द्र सूर्य व्यर्थ ही शीत तथा आतपके करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजःस्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं[1] तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

जो स्वपरभाव प्रकाशकारी, लसत तुममें ज्ञान है ।
सो हरिहरादिक नायकोंमें, नाहिं होवत भान है ॥
जैसो प्रकाश महान मनिमें, महतताको लहत है ।
तैसो न कबहूँ कांतिजुत हू, काँचमें लख परत है ॥२०॥

अन्वयार्थौ—हे नाथ, (कृतावकाशं[2]) किया है अनन्त पर्यायात्मक पदार्थोंका प्रकाश जिसने, ऐसा (ज्ञानं) केवलज्ञान (यथा) जैसा (त्वयि) आपमें (विभाति) शोभायमान् है, (तथा) वैसा (हरिहरादिषु) हरिहरादिक (नायकेषु) नाय[3]-

---

१ "काचोद्भवेषु न तथैव विकासकत्वं" ऐसा भी पाठ है। २ अनन्तपर्यायात्मके वस्तुनि कृतो विहितोऽवकाशः प्रकाशो येन तत्। ३ अपने अपने शासनके नायकों अर्थात् स्वामियोंमें।

कोमें (नैवं) नहीं है। सो ठीक ही है। क्यों कि (यथा) जिस प्रकारसे (तेजः) प्रकाश (स्फुरन्मणिषु) स्फुरायमान मणियोंमें (महत्त्वं) गौरवको (याति) प्राप्त होता है, (एवं तु) वैसा तो (किरणाकुले अपि) किरणोंसे व्याप्त अर्थात् चमकते हुए भी (काचशकले) काचके टुकडेमें (न) नहीं होता।

भावार्थः—जो प्रकाश मणियोंमें शोभाको पाता है, वह कांचके टुकड़ोंमें नही पा सकता। इसी प्रकारसे जैसा स्वपरप्रकाशक ज्ञान आपमें है, वैसा अन्य विष्णु महादेव आदि देवोंमें नही पाया जाता ॥ २० ॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥२१॥

नरेन्द्रछन्द वा जोगीरासा।

हरिहर आदिक देवनको ही, अवलोकन मुहि भावै।
जिनहिं निरखकर जिनवर, तुममें, हृदय तोष अति पावै॥
पै कहा तुम दरसनसों भगवन्, जो इस जगके माहीं।
परभवमें हू अन्य देव मन, हरिवे समरथ नाहीं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—(नाथ) हे नाथ, मै (हरिहरादयः दृष्टा एव) हरिहरादिक देवोंका देखना ही (वरं मन्ये) अच्छा मानता हूं। (येषु दृष्टेषु) जिनके कि देखनेसे (हृदयं) हृदय

(त्वयि) तुममें (संतोषं) संतोषको (एति) पाता है और (भवता वीक्षितेन) आपके देखनेसे (किं) क्या ? (येन) जिससे कि, (भुवि) पृथिवीमें (अन्यः कश्चित्) कोई अन्य देव (भवान्तरे अपि) दूसरे जन्ममें भी (मनः न हरति) मन हरण नही कर सकते ।

भावार्थः—हरिहरादिक देवोंका देखना अच्छा है । क्यों कि जब हम उन्हें देखते है, और रागद्वेषादि दोषोंसे भरे हुए पाते है, तब आपमें हमको अतिशय संतोष होता है । क्यों कि आप परम वीतराग सर्व दोषोंसे रहित है । परन्तु आपके देखनेसे क्या ? कुछ नही । क्योंकि आपके देख लेनेसे फिर ससारके कोई भी देव मनको हरण नही कर सकते । सारांश—दूसरोंके देखनेसे तो आपमें संतोष होता है, यह लाभ है और आपके देखनेसे कोई भी देवकी ओर चित्त नही जाता, यह हानि है (व्याजनिन्दा और व्याजस्तुति अलंकार) ॥ २१ ॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

अहैं सैकड़ों सुभगा नारीं, जो बहुसुत उपजावैं ।
पै तुम सम सुपूतकी जननीं, यहां न और दिखावैं ॥
यद्यपि दिशिविदिशाएँ सिगरीं, धरैं नछत्र अनेका ।
पै प्रतापि रविको उपजावै, पूर्वदिशा ही एका ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—हे भगवन्, (स्त्रीणां शतानि) स्त्रियोंके सैकड़े अर्थात् सैकड़ों स्त्रियां (शतशः) सैकडो (पुत्रान्) पुत्रोंको (जनयन्ति) जनती है। परन्तु (अन्या) दूसरी (जननी) माता (त्वदुपमं) तुम्हारे जैसे (सुतं) पुत्रको (न प्रसूता) उत्पन्न नही कर सकती है। सो ठीक ही है। क्यों कि (सर्वा दिशः) सम्पूर्ण अर्थात् आठों दिशाएँ (भानि) नक्षत्रोंको (दधति) धारण करती है, परन्तु (स्फुरत्—अंशुजालं) दैदीप्यमान् है किरणोंका समूह जिसका, ऐसे (सहस्ररश्मि) सूर्यको एक (प्राची दिक् एव) पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।

भावार्थः—जिस प्रकार एक पूर्व दिशा ही सूर्यको उत्पन्न कर सकती है, उसी प्रकार एक आपकी माता ही ऐसी है, जिसने आप जैसे पुत्रको जन्म दिया ॥ २२ ॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस—
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः २३

हे मुनीश, मुनिजन तुमकहँ नित, परमपुरुष परमानैं।
अंधकार नाशनके कारन, दिनकर अमल सु जानैं ॥

---

१ "पवित्रम्" भी पाठ है। २ सूर्य।

तुम पायेतैं भलीभांतिसों, नीच मीचं जय होई।
यासों तुमहिं छाँड़ि शिवपदपथ, विघनरहित नहिं कोई २३

अन्वयार्थौ—(मुनीन्द्र) हे मुनीन्द्र, (मुनयः) मुनि जन (त्वाम्) तुम्हें (परमंपुमांसं) परम पुरुष, और (तमसः) अंधकारके (पुरस्तात्) आगे (आदित्यवर्णम्) सूर्यके स्वरूप तथा (अमलं) निर्मल (आमनन्ति) मानते है। तथा वे मुनि-जन (त्वाम् एव) तुम्हें ही (सम्यक्) भले प्रकार (उपलभ्य) पा करके (मृत्युं) मृत्युको (जयन्ति) जीतते है। इस लिये तुम्हारे अतिरिक्त (अन्यः) दूसरा कोई (शिवः) कल्याणकारी अथवा निरुपद्रव (शिवपदस्य) मोक्षका (पन्थाः न) मार्ग नही है।

भावार्थ—साधु मुनियोंके समूह आपको परमपुरुष मानते है। रागद्वेषरूपी मलसे आप रहित है, इस कारण निर्मल मानते हैं। मोह अंधकारको आप नाश करते हैं, इस कारण सूर्यके समान मानते है। आपके प्राप्त होनेसे मृत्यु नही आती, इस कारण मृत्युंजय मानते हैं और आपके अतिरिक्त कोई निरुपद्रव मोक्षका मार्ग नही है, इस कारण आपको ही वे मोक्षका मार्ग मानते है॥ २३॥

---

१ मृत्यु—मौत। २ मोक्षपदका रास्ता। ३ परमपुंस्त्वं वाह्याभ्यन्तरपुंसोरपेक्षया। वाह्यः पुमान् कायः औदारिकादिः, आन्तरः पुमान् सकर्मा जीवः, परमः पुमान् निःकर्मा सानन्तचतुष्कः सिद्ध एवावसेयः। यहां परम विशेषण वाह्य और अन्तरग पुमानकी अपेक्षा है। वाह्यपुमान् औदारिकादि शरीरोंको कहते हैं, और अन्तरंग पुमान् कर्मसहित जीवको कहते हैं। इसलिये परम पुमान्से कर्मरहित सिद्ध आत्मा ही समझना चाहिये।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥ २४ ॥

कहैं संतजन तोहि निरंतर, अखय अनंत अनूपा ।
आद्य अचिंत्य असंख्य अमल विभु, केवलज्ञानस्वरूपा ॥
एक अनेक ब्रह्म परमेश्वर, कामकेतु योगीशा ।
जोगरीतिको जाननवारो, श्रीजिनेन्द्र जगदीशा ॥ २४ ॥

अन्वयार्थौ—हे प्रभो, (सन्तः) सन्त पुरुष (त्वाम्) तुम्हे (अव्ययं[1]) अक्षय, (विभुं[2]) परम ऐश्वर्यसे शोभित, (अचिन्त्यं[3]) चिन्तवनमें नही आनेवाले (असंख्यं[4]) असंख्य गुणोंवाले, (आद्यं) आदि तीर्थंकर अथवा पचपरमेष्ठीमें आदि अरहंत, (ब्रह्माणं) निर्वृत्तिरूप अथवा सकलकर्मरहित, (ईश्वरं) सर्व देवोंके ईश्वर अथवा कृतकृत्य, (अनन्तम्) अन्तरहित अथवा अनन्त चतुष्टयसहित (अनङ्गकेतुम्[5]) कामदेवके नाश करनेके लिये केतुरूप, (योगीश्वरं) ध्यानियोंके प्रभु, (विदितयोगं[6])

1 सदा स्थिर एकस्वभावी अनतज्ञानादिस्वरूप विनाशरहित । २ व्यापक—जिसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है । अथवा कर्मके नाशकरनेमें समर्थ भी विभुका अर्थ होता है । ३ अद्भुत हैं—अचिन्त्य है, गुण जिसके । ४ सख्य शब्दका अर्थ युद्ध भी होता है, इससे असख्यका अर्थ युद्धरहित भी हो सकता है । अथवा "कालतो गुणतो वा असङ्ख्यम्" अर्थात् भगवान् कालसे वा गुणसे भी असंख्य हैं । ५ केतु ग्रहका उदय जिस प्रकार ससारके नाशकरनेके लिये होता है, उसीप्रकार आपका उदय कामदेवके नाशके लिये है । ६ विदितोऽवगतः ज्ञानदर्शनचारित्ररूपो योगो येन । विदितो

यम आदि आठ प्रकारके योगोंके जाननेवाले (अनेकं) गुणपर्यायकी अपेक्षा अनेक रूप, (एकं) जीव द्रव्यकी अपेक्षा एक अथवा अद्वितीय, (ज्ञानस्वरूपं) केवलज्ञानस्वरूप चिद्रूप और (अमलं) कर्ममलरहित (प्रवदन्ति) कहते है।

भावार्थः—साधु पुरुष आपकी पृथक् २ गुणोंकी अपेक्षासे अव्यय, अचिन्त्य, विभु आदि कहकर स्तुति करते हैं ॥ २४ ॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥२५॥

विबुधन पूजौ बुद्धि-बोध तुव, यासों बुद्ध तुम्हीं हो ।
तीनभुवनके शंकर यासों, शंकर शुद्ध तुम्हीं हो ॥
शिवमारगके विधि विधानसों, सांचे तुम्हीं विधाता ।
त्यों ही शब्द अर्थसों तुम ही, पुरुषोत्तम जगत्राता ॥२५॥

अन्वयार्थौ—हे नाथ, (विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) गणधरोंने अथवा देवोंने तुम्हारे केवलज्ञानके बोधकी पूजा की है,

---

योगो येन यस्माद्वा । अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्ररूप योगका जाननेवाला अथवा जिससे वा जिसने योग जाना है, उसे विदितयोग कहते हैं ।

१ वृषभादिव्यक्तिभेदापेक्षया वा । अर्थात् ऋषभदेवआदि व्यक्तिभेदकी अपेक्षा भी भगवान्को एक कह सकते हैं । २ देवोंने । ३ कल्याण अथवा सुखके करनेवाले । ४ ब्रह्मा । ५ नारायण श्रीकृष्ण । ६ कोई २ इस पदके दो खंड करके अर्थ करते हैं, एक तो "विबुधार्चित" अर्थात् हे देवोंके द्वारा पूज्य, और दूसरा "बुद्धिबोधात्" अर्थात् केवलज्ञानके बोधसे ।

इस कारण (त्वम् एव) तुम ही (बुद्धः) बुद्धदेव हो, (भुवनत्रयशंकरत्वात्) तीन - लोकके जीवोंके श अर्थात् सुख वा कल्याणके करनेवाले हो, इस लिये (त्वं) तुम ही (शंकरः असि) शंकर हो और (धीर) हे धीर, (शिवमार्गविधेः) मोक्षमार्गकी रत्नत्रयरूप विधिका (विधानात्) विधान करनेके कारण तुम ही (धाता असि) विधाता हो। इसी प्रकार (भगवन्) हे भगवन्, (त्वम् एव) तुम ही (व्यक्तं) प्रगटपनेसे अर्थात् उपर्युक्त प्रकारसे पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम वा नारायण (असि) हो।

भावार्थः—बौद्ध लोग जिसे मानते है, वह क्षणिकवादी अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थोंको अनित्य माननेवाला बुद्ध नही हो सकता। सच्चे बुद्ध आप है। क्योंकि आपके बुद्धिबोधकी देवोने पूजा की है। शैव लोग जिसे मानते है, वह पृथ्वीका सहार करनेवाला कपाली शंकर (महादेव) नही हो सकता, क्योंकि शंकर शब्दका अर्थ सुखकर्त्ता है। और यह गुण आपमें विद्यमान है, इस कारण आप ही सच्चे शंकर है। रंभाके विलासोंसे जिसका तप नष्ट हो गया था, वह सच्चा धाता (ब्रह्मा) नही, किन्तु आप है। क्योंकि आपने मोक्षमार्गकी विधि संसारको बतलाई है। और इसी प्रकार वैष्णवोंका गोपियोंका चीर हरण करनेवाला तथा परवनितारक्त पुरुष पुरुषोत्तम (विष्णु) नही हो सकता। किन्तु उपर्युक्त गुणोंके कारण आप ही सच्चे पुरुषोत्तम कहलानेके योग्य है ॥ २५ ॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।

तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय॥२६॥

तीनभुवनके विपदविदारक, तारनतरन, नमस्ते।
वसुधातलके[1] विमलभूषन, दूषनदरन, नमस्ते॥
तीनलोकके परमेश्वर जिन, विगतविकार, नमस्ते।
अति गंभीर जगतजलनिधिके, शोषनहार, नमस्ते॥२६॥

अन्वयार्थौ—(नाथ) हे नाथ, (त्रिभुवनार्तिहराय) तीन लोककी पीड़ाको हरण करनेवाले ऐसे (तुभ्यं) तुम्हे (नमः) नमस्कार है, (क्षितितलामलभूषणाय) पृथ्वीतलके एक निर्मल अलंकाररूप (तुभ्यं) तुम्हे (नमः) नमस्कार है, (त्रिजगतः परमेश्वराय) तीनोंजगत्के परम प्रभु (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है, और (जिन) हे जिन, (भवोदधिशोषणाय) संसारसमुद्रके सोखनेवाले (तुभ्यं) आपको (नमः) नमस्कार है॥ २६ ॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोसि॥२७॥

हे मुनीश, गुनगन मिलि सिगरे, आय बसे तुवमाहीं।
ह्वैकै अतिशय सघन, रह्यौ अवकाश लेश हू नाहीं॥

---

1 पृथ्वीतलके।

यह लखि दोषवृन्द सपनेहुँमें, जो न ओर तुव जोवै।
तो नहिं अचरज, वहुआश्रयतैं, गरव सवनको होवै॥२७॥

अन्वयार्थौ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश्वर, (यदि) यदि (अशेषैः) सम्पूर्ण (गुणैः) गुणोंने (निरवकाशतया) सघनतासे (त्वं संश्रितः) तुम्हारा भले प्रकार आश्रय ले लिया, (अपि) तथा (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त किये हुए अनेक देवादिकोंके आश्रयसे जिन्हे घमंड हो रहा है, ऐसे (दोषैः) दोषोंने (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्न प्रतिस्वप्नावस्थाओंमें भी (कदाचित् अपि) किसी समय भी तुम्हें (न ईक्षितः असि) नही देखा, तो (अत्र) इसमें (को नाम विस्मयः) कौनसा आश्चर्य हुआ ? कुछ नही।

भावार्थः—संसारमें जितने गुण थे, उन सबोंने तो आपमें इस तरहसे ठसाठस निवास कर लिया कि, फिर कुछ भी अवकाश शेष नही रहा। और दोषोंने यह सोचकर घमंडसे आपकी ओर कभी देखा भी नही कि, जव संसारके बहुतसे देवोंने हमें आश्रय दे रक्खा है, तव हमको एक जिनदेवकी क्या परवाह है? उनमें हमको स्थान नहीं मिला, तो न सही। सारांश यह है कि, आपमें केवल गुणोंका ही समूह है, दोषोंका नाम भी नही है॥२७॥

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।

---

१ जिनके ठहरनेको बहुतसे आश्रय होते है, उन्हे घमंड होता ही है।
२ स्वप्नके भीतर जो स्वप्न आते हैं, उन्हें प्रतिस्वप्न कहते हैं।

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥ २८ ॥

हे जिनवर, अशोकतल तुव अति, विमलरूप मन मोहै।
किरन-निकर-वितरनसों चँहुघा, अस उपमायुत सोहै॥
जैसे जलधरके समीप, सोहत बहु किरनस्वरूपा।
तेजमान तमतोमहरन वर, दिनकरविम्ब अनूपा॥ २८ ॥

अन्वयार्थौ—(उच्चैः) ऊँचे (अशोकतरुसंश्रितम्) अशोक वृक्षके आश्रयमें स्थित और (उन्मयूखं) ऊपरकी ओर निकलती है किरणें जिसकी, ऐसा (भवतो) आपका (नितान्तं) अत्यन्त (अमलं) निर्मल (रूपं) रूप—(स्पष्टोल्लसत्किरणम्) व्यक्तरूप ऊपरको फैली है किरणें जिसकी, ऐसे तथा (अस्ततमोवितानं) नष्ट किया है अंधकारका समूह जिसने ऐसे, (पयोधरपार्श्ववर्ति) वादलोंके पास रहनेवाले (रवेः) सूर्यके (बिम्बं इव) बिम्बके समान (आभाति) शोभित होता है।

भावार्थः—वादलोंके निकट जैसे सूर्यका प्रतिविम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार अशोकवृक्षके नीचे आपका निर्मल शरीर भासमान होता है। (भगवान्के आठ प्रतिहार्योंमेंसे पहले प्रातिहार्यका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है)॥ २८ ॥

---

१ किरणोंका समूह। २ अंधकारके समूहको हरण करनेवाला।

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥ २९ ॥

मनिकिरननसों चित्रित दुतियुत, सिंहासन मन भावै ।
तापै जिन, तुव कनकवरन तन, ऐसी उपमा पावै ॥
तान वितान[1] गगनमें अपनी, किरननको सुखदाई ।
ऊंचे उदयाचल[2]के ऊपर, दिनकर[3]बिम्ब दिखाई ॥ २९ ॥

अन्वयार्थौ—हे भगवन्, (मणिमयूखशिखाविचित्रे) मणियोंकी किरणपंक्तिसे चित्र विचित्र (सिंहासने) सिंहासनपर (तव) तुम्हारा (कनकावदातम्) सुवर्णके समान मनोज्ञ (वपुः) शरीर (तुङ्गोदयाद्रिशिरसि) ऊंचे उदयाचलके शिखरपर (वियद्विलसदंशुलतावितानं) आकाशमें[4] शोभित हो रहा है किरणरूपी लताओंका चँदोवा जिसका ऐसे (सहस्ररश्मेः बिम्बं इव) सूर्यके बिम्बकी तरह (विभ्राजते) अतिशय शोभित होता है ।

भावार्थः—उदयाचल पर्वतके शिखरपर जैसे सूर्यबिम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार मणिजटित सिंहासनपर आपका शरीर शोभित होता है (यह भगवान्के दूसरे प्रतिहार्यका वर्णन है) ॥ २९ ॥

---

१ चंदोवा । २ जिस पर्वतसे सूर्य उदय होता है, उसको उदयाचल कहते हैं । ३ सूर्यका बिम्ब । ४ आकाशसे जो सूर्यकी किरणें फैलती हैं, वे उदयकी अवस्थामें रक्त वर्ण होती हैं ।

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

कनकवरन तुव सुतनु[1], जासुपर, कुंदसुमनद्युति[2]धारी ।
चारु चमर चहुँ ढुरत विशद[3] अति, सोहत यों मनहारी॥
सुरगिरि[4]के कंचनमय ऊंचे, तटपर ज्यों लहरावै ।
झरननकी उज्जल जलधारा, उदित इन्दु[5]सी भावै ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हे जिनेन्द्र, (कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) ढुरते हुए कुन्दके समान उज्वल चँवरोंसे मनोहर हो रही है शोभा जिसकी ऐसा (कलधौतकान्तम्) सोनेसरीखी कान्तिवाला (तव वपुः) आपका शरीर—(उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्) उदयरूप चन्द्रमाके समान निर्मल झरनोंकी जलधारा जिनमें वह रही है, ऐसे (शातकौम्भम्) सुवर्णमयी (सुरगिरेः) सुमेरु पर्वतके (उच्चैस्तटं इव) ऊंचे तटोंकी नाईं (विभ्राजते) शोभित होता है ।

भावार्थः—सुवर्णमयी सुमेरुपर्वतके दोनों तटोंपर मानों निर्मल जलवाले दो झरने झरते हों, इस प्रकारसे भगवान्‌के सुवर्णसदृश शरीरपर दो उज्वल चमर ढुर रहे है । (यह तीसरे प्रातिहार्यका वर्णन है) ॥ ३० ॥

---

१ सुन्दर शरीर । २ कुन्दके पुष्पके समान । ३ निर्मल । ४ सुमेरुपर्वतके । ५ चन्द्रमासरीखी ।

छत्त्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैःस्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्[1] ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्
प्रख्यापयत्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

शशिसमान रमनीय प्रखर, रवि[2]तापनिवारनहारे ।
मुकतनकी मंजुल[3] रचनासों, अतिशय शोभा धारे ॥
तीन छत्र ऊंचे तुव सिरपर, हे जिनवर, मन भावैं ।
तीन जगतकी परमेश्वरता, वे मानों प्रगटावैं ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थौ—हे नाथ, (शशाङ्ककान्तम्) चन्द्रमाके समान रमणीय, (उच्चैःस्थितं) ऊपर ठहरे हुए, तथा (स्थगितभानुकरप्रतापम्) निवारण किया है सूर्यकी किरणोंका प्रताप जिन्होंने, और (मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्) मोतियोंके समूहकी रचनासे बढी हुई है शोभा जिनकी ऐसे (तव) आपके (छत्त्रयं) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीन जगत्का (परमेश्वरत्वम्) परम-ईश्वरपना (प्रख्यापयत्) प्रगट करते हुए (विभाति) शोभित होते है ।

भावार्थः—हे भगवन्, आपके तीन छत्र तीनों जगतके परमेश्वरपनेको प्रगट करते है । अर्थात् एक छत्रसे पाताल लोकका, दूसरेसे मर्त्यलोकका, और तीसरे छत्रसे देवलोकका स्वामित्व प्रगट करते है । (यह चौथे प्रातिहार्यका वर्णन है) ॥ ३१ ॥

---

१ "प्रभावम्" भी पाठ है । २ सूर्यका आतप–गर्मी । ३ सुन्दर ।

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
त्रैलोक्यलोकशुभ[1]सङ्गमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभि[2]र्ध्वजति ते यशसः प्र[3]वादी ॥३२

रुचिर उच्च गंभीर सुरनैंकर, दशदिशि पूरनवारो ।
त्रिभुवनजनकहँ शुभसंगमकी, संपति वितरनहारो ॥
गगनमाहिं पुनि तुव जसकी जो, महिमा गावत छाजै ।
सो दुंदुभि जिनराजविजयकी, करत घोषणा वाजै ॥३२

अन्वयार्थौ—हे जिनेन्द्र, (गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः) गंभीर तथा ऊंचे शब्दोंसे दिशाओंको पूरित करनेवाला, (त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः) तीन लोकके लोगोंको शुभ-समागमकी विभूति देनेमें चतुर ऐसा और(ते) आपके (यशसः) यशका (प्रवादी) कहनेवाला—प्रगट करनेवाला (दुन्दुभिः) दुन्दुभि (खे) आकाशमें (सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्) सद्धर्मराजकी अर्थात् तीर्थंकर देवकी जयघोषणाको प्रगट करता हुआ (ध्वजति) गमन करता है ।

भावार्थः—समवसरणमें जो दुंदुभि वजते हैं, वे यथार्थमें आपके यशका गायन करते हुए आपकी विजयघोषणा करते है । (यह पाचवां प्रतिहार्य है ।) ॥ ३२ ॥

---

१ "सुख ." भी पाठ है । २ "ध्वनति" भी पाठ है, जिसका अर्थ "वजता है" ऐसा होता है । ३ "प्रवन्दी" भी पाठ है, जिसका अर्थ "वन्दीजन" होता है । ४ शब्दोंकरके ।

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदविन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा॥३३॥

गन्धोदक विन्दुनसों पावन, मन्दपवनकी प्रेरी ।
पारिजात मन्दार आदिके, नव कुसुमनकी ढेरी ॥
ऊरधमुखि व्है नभसों वरसत, दिव्य अनूप सुहाई ।
मांनों[1] तुव वचननकी पंकति, रूपराशि[2] धरि छाई ॥३३॥

अन्वयार्थौ—हे नाथ, (गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता) गन्धोदककी बूंदोंसे मंगलीक और मन्दमन्द वायुसे पतन करनेवाली, (उद्धा) ऊर्ध्वमुखी और (दिव्या) दिव्यं ऐसी (मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः)

---

१ आचार्य प्रभाचन्द्रजीकी टीकामे "वयसां ततिः" ऐसा भी पाठ है। और उसका अर्थ "पक्षियोंकी पक्ति" किया है। अर्थात् पुष्पवृष्टि ऐसी जान पड़ती है, मानों आकाशसे पक्षियोंकी श्रेणी पृथ्वीपर उतरती हो। जो महाशय "वयसां ततिः" पाठको पसन्द करें, वे यहा इस प्रकारसे पढ़े—"मानों यह विहगनकी पंकति, देवलोकसों आई।" २ रुपराशिसे यह प्रयोजन है कि, दिव्यध्वनि जो देखी नहीं जाती, वह मानो दृश्य अर्थात् पुद्गलरूप होकर फैल रही है। ३ भगवान्के समवसरणमें जो फूल वरसते हैं, उनके मुंह ऊपरको रहते हैं, और डंठल नीचेको। श्रीरत्न-चन्द्रसूरिने अपनी सस्कृतटीकामे उद्धाका अर्थ श्लाघ्य—प्रशंसनीय लिखा है। ४ देवलोकमें जो उत्पन्न होवे, अथवा देवोंके द्वारा जो की जावे। पारमार्थिकीको भी दिव्य कहते है।

मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक आदि कल्प-वृक्षोंके फूलोंकी वर्षा (दिवः) आकाशसे (पतति) पडती है, (वा) अथवा (ते) आपके (वचसां) वचनोंकी (ततिः) पंक्ति ही फैलती है।

भावार्थः—भगवानके समवसरणमें जो फूलोंकी वर्षा होती है, वह ऐसी जान पड़ती है, मानों भगवान्के दिव्य वचन ही फैल गये हों। (यह छट्ठा प्रातिहार्य है।) ॥ ३३ ॥

शुम्भत्[1]प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते
लोक[2]त्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या-
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम[3]सौम्या॥

जाकी अमित सुदुतिके आगैं, सब दुतिवंत लजावैं।
अगनित उदित दिवाकर[4] हू जिहि, समता नहिं कर पावैं॥
हे विभु, ऐसो तेजपुंज तुव, भामंडल अति नीको।
शशि[5]सम सौम्य अहै तउ जीतत, दीपतिसों रजनीको॥

अन्वयार्थौ—हे विभो! (प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या)

---

१ "चञ्चत्प्रभा" भी पाठ है। २ "लोकत्रये" भी पाठ है। ३ "सोमसौम्यां" भी पाठ है, जो निशाम्का विशेषण होता है। इसका अर्थ यों होता है कि, "चन्द्रमाकरके मनोहर अथवा शीतल रात्रिको भी जीतती है।" ४ सूर्य। ५ जो महाशय सोमसौम्यां पाठको ठीक समझते हैं, उन्हें भाषापद्यमें इस प्रकार पाठान्तर करना चाहिये;--"तौहू निज दीपतितैं जीतत, शीतलशशि-रजनीको।"

दैदीप्यमान सघन और अनेक संख्यावाले सूर्योंके तुल्य (ते विभोः) तुम्हारे (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) शोभायमान भामंडलकी अतिशय प्रभा (लोकत्रयद्युतिमतां) तीनों लोकके प्रकाशमान पदार्थोंकी (द्युतिम्) द्युतिको (आक्षिपन्ती) तिरस्कार करती हुई (सोमसौम्या अपि) चन्द्रमाकी नाईं सौम्य होनेपर भी (दीप्त्या) अपनी दीप्तिके द्वारा (निशाम् अपि) रात्रिको भी (जयति) जीतती है।

भावार्थः—यह विरोधाभास अलंकार है। इसमें विरोध तो यह है कि, "सोमसौम्या" अर्थात् जो प्रभा चन्द्रमासरीखी होगी, वह रात्रिको सुशोभित करेगी। परन्तु यहां कहा है कि, जीतती है आच्छादित करती है। और विरोधका परिहार इस प्रकार होता है कि, "दीप्त्या" अर्थात् दीप्तिसे रात्रिको जीतती है, अर्थात् रात्रिका अभाव करती है। सारांश यह है कि, भामंडलकी प्रभा यद्यपि कोटि सूर्यके समान तेजवाली है, परन्तु आताप करनेवाली नहीं है। चन्द्रमाके समान शीतल है, और रात्रिका अन्धकार नहीं होने देती है। (यह सातवा प्रातिहार्य है) ॥ ३४ ॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः[1] ॥३५॥

---

१. "गुणप्रयोज्यः" और "गुणप्रयोज्या" भी पाठ है।

स्वर्ग और अपवर्ग मार्गकी, वाट वतावनहारी।
परम धरमके तत्त्व कहनको, चतुर त्रिलोकमझारी ॥
होय जगतकी सव भाषनमें, जो परिनत सुखदानी।
ऐसी विशद अर्थकी जननी, हे जिनवर, तुव वानी ॥३५॥

अन्वयार्थौ—हे जिनदेव! (स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्ष जानेके मार्गको अन्वेषण करनेमें इष्ट (आवश्यक) अथवा स्वर्ग मोक्ष मार्गको शोधनेवाले मुनियोंको इष्ट तथा (त्रिलोक्याः) तीन लोकके (सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुः) समीचीन धर्मके तत्त्वोंके कहनेमें एक मात्र चतुर और (विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः) निर्मल जो अर्थ और उसके समस्त भाषाओंके परिणमनरूप जो गुण, उन गुणोंसे (प्रयोज्यः) जिसकी योजना होती है, ऐसी (ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (भवति) होती है।

भावार्थः—भगवान्‌की वाणीमें यह अतिशय है कि, सुननेवालोंकी सम्पूर्ण भाषाओंमें निर्मल रूपसे उसका परिणमन हो जाता है। अर्थात् भगवान्‌की वाणी जो सुनता है, वही अपनी भाषामें उसे सरलतासे समझ लेता है। (आठवां प्रातिहार्य।) ॥३५॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

---

१ मोक्ष। २ निर्मल। ३ उत्पन्न करनेवाली।

सुवरन–वरन खिले कमलनकी, ललित कांति जो धारैं।
त्यों ही नख किरननकी चहुँघा, छटा अनूप उछारैं ॥
अस तुव चरननकी डग जहँ जहँ, परत अहो जिनराई।
तहँ तहँ पंकजपुंज अनूपम, रचत देवगन आई ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र, (उन्निद्रहेमनव-पङ्कजपुञ्जकान्ती) फूले हुए सुवर्णके नवीन कमलसमूहके सदृश कान्ति धारण करनेवाले और (पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) चारोंओर उछलती हुई नखोंकी किरणोंके समूहकरके सुन्दर ऐसे (तव) आपके (पादौ) चरण (यत्र) जहांपर (पदानि) डग (धत्तः) रखते है, (तत्र) वहांपर (विबुधाः) देवगण (पद्मानि) कमलोंको (परिकल्पयन्ति) परिकल्पित करते है, अर्थात् कमलोकी रचना करते है ।

भावार्थः—जहां २ भगवान्‌के चरण पड़ते है, वहां २ पर देवता कमलोंकी रचना करते है ॥ ३६ ॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

इहि विधि वृषउपदेशसमय[1] तुव, समवसरनके माँहीं ।
भई विभूति अपूरव हे जिन, सो औरनके[2] नाहीं ॥

१ धर्मोपदेशके समय । २ दूसरोंके–हरिहरादि देवोंके ।

जैसी प्रभा देखियतु रविमें, तेजवन्त तमहारी।
तैसी उडुगनमाँहिं कहां है? यद्यपि करत उजारी॥३७॥

अन्वयार्थौ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र, (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेशके विधानमें अर्थात् धर्मका उपदेश देते समय समवसरणमें (इत्थं) पूर्वोक्त प्रकारसे (तव) आपकी (विभूतिः) समृद्धि (यथा) जैसी (अभूत) हुई (तथा) वैसी (परस्य) हरिहरादिक दूसरे देवोंके (न)नहीं हुई। सो ठीक ही है। (दिनकृतः) सूर्यकी (यादृक्) जैसी (प्रहतान्धकारा) अंधकारको नष्ट करनेवाली (प्रभा) प्रभा होती है, (तादृक्) वैसी प्रभा (विकाशिनः अपि) प्रकाशमान होते हुए भी (ग्रहगणस्य) तारागणोंकी (कुतः) कहांसे होवे?

भावार्थः—यद्यपि तारागण थोड़े वहुत चमकनेवाले होते हैं, तो भी वे सूर्यके समान प्रकाशित नहीं हो सकते। इसी प्रकार यद्यपि हरिहरादिक देव हैं, तो भी आपकी समवसरण जैसी विभूतिको वे धारण नही कर सकते॥ ३७॥

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥ ३८॥

मदजलमलिन विलोल कपोलन,—पै इत उत मड़राके।
कोप बढ़ायो जिहिको अलिगन, अतिशय शोर मचाके॥

१ अंधकारको नाश करनेवाली। २ तारोंमें। ३ "उत्कटम्" भी पाठ है। ४ अतिशय चंचल।

ऐसो उद्धत ऐरावतसम, गज जो सनमुख धावै।
तौ हू तुवपदसेवक ताकों, देख न नेकु डरावै ॥ ३८॥

अन्वयार्थौ—हे नाथ, (श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोल-मूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्) [1]झरते हुए मदसे जिसके गंडस्थल मलीन तथा चंचल हो रहे है, और उनपर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भौरे अपने शब्दोंसे जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं, ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावत हाथीके समान आकारवाले तथा (उद्धतं) उद्धत अर्थात् अकुशादिको नही माननेवाले और (आपतन्तं) साम्हने आते हुए (इभम्) हाथीको (दृष्ट्वा) देखकर (भवत् आश्रितानां) आपके आश्रयमें रहनेवाले पुरुषोंको (भयं) भय (नो) नही (भवति) होता है।

भावार्थः—अत्यन्त उच्छृंखल हाथीको देखकर भी आपके भक्तजन भयभीत नही होते है ॥ ३८ ॥

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥३९॥

जो मदमत्त गजनके उन्नत, कुंभ विदारि नखनसों।
सिंगारत [2]भुवि रुधिर[3]सुरंजित, सुन्दर सित मोतिनसौं॥

---

१ मदोन्मत्त हाथीके कपोलोंसे मद झरता है। उसकी सुगन्धिसे भौरे चारों ओरसे आकर झूमते हैं और गुंजार करते हैं। २ पृथ्वी। ३ रक्तसे भीगी हुई।

भरी छलाँग हतनकहँ जिहिने, ऐसे खल मृगपतिके।
पंजनि परे वचैं तव-पद-गिरि,-आश्रित जन शुभमतिके ३९

अन्वयार्थौ—और हे नाथ, (भिन्नेभकुम्भगलदुज्वल-शोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः) विदारे हुए हाथियोंके मस्तकोंसे जो रक्तसे भीगे हुए उज्वल मोती[1] पड़ते हैं, उनके समूहसे जिसने पृथ्वीके भाग शोभित कर दिये हैं, ऐसा तथा (बद्धक्रमः[2]) आक्रमण करनेके लिये बांधी है चौकड़ी अथवा छलांग जिसने ऐसा (हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतं) पंजेमें पड़े हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितं) दोनों चरणरूपी पर्वतोंका आश्रय लेनेवाले मनुष्यपर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता है।

भावार्थः—आपके चरणोंका आश्रय लेनेवाले भक्तजनोंपर भयानक सिंह भी आक्रमण नही कर सकता है ॥ ३९ ॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्[3]।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥ ४०॥

---

१ मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तकोंमें मोती उत्पन्न होते है, जिन्हें गजमुक्ता कहते हैं। २ "बद्धक्रमः"का "बंधे हुए है पॉव जिसके" यह भी तात्पर्य है। क्योंकि सिंह जो स्वभावसे ही क्रूर होता है, यदि बाध दिया जावे, तो फिर उसके क्रोधका ठिकाना नहीं रहता है परन्तु उस क्रोधावस्थामे भी वह आपके शरणागतोंका घात नहीं कर सकता है। ३ यद्यपि अनेक प्राचीन

प्रलय-पवन-प्रेरित-पावकसी, विस्तृत अधिक उतंगा।
प्रज्ुलित उज्वल नभमें जिहिके, अगनित उड़त फुलिंगा॥
ऐसी प्रवल दवानल जो सव, जगत भस्म करि डारै।
सोहू तुव गुनगाननीरसों, शीतलता विसतारै॥ ४० ॥

अन्वयार्थौ—हे भगवन्, (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं) प्रलयकालके पवनसे उत्तेजित हुई अग्निके सदृश तथा (उत्स्फुलिङ्गम्) उड रहे हैं, ऊपरको फुलिंगे जिससे ऐसी (ज्वलितम्) जलती हुई (उज्ज्वलम्) उज्वल और (अशेषं) सम्पूर्ण (विश्वं) संसारको (जिघत्सुम् इव) नाश करनेकी मानो जिसकी इच्छा ही है, ऐसी (सम्मुखं) साम्हने (आपतन्तं) आती हुई (दावानलं) दावाग्निको (त्वन्नामकीर्तनजलं) आपके नामका कीर्तनरूपी जल (शमयति) शान्त करता हैं।

भावार्थः—आपके गुणोंका गान करनेसे वडी भारी दावाग्नि भी भक्तजनोंका कुछ विगाड नहीं कर सकती॥ ४० ॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः॥४१॥

पुस्तकोंमें "उत्फुलिङ्गं" पाठ मिलता है परन्तु कोषादिकोंसे सकारयुक्त फुलिङ्ग शब्द सिद्ध होता है। अत एव "उत्स्फुलिङ्गं" ही पढ़ना ठीक है।

हरिगीतिका ।

कारो समद-पिक-कंठसम, चख अरुन जासु भयावने ।
ऊंचौ करैं फन फुंकरत, आवै चलो जो सामने ॥
तिहि सांपके सिर पांव देकरि, चलै सो अति निडर हो ।
तुव नामरूपी नागदमनी, धरत जो हियमें अहो! ॥४१॥

अन्वयार्थौ—हे जगन्नाथ, (यस्य) जिस (पुंसः) पुरुषके (हृदि) हृदयमें (त्वन्नामनागदमनी) तुम्हारे नामकी नागदमनी जड़ी है, वह पुरुष (क्रमयुगेन) अपने पैरोंसे (रक्तेक्षणं) लाल नेत्रवाले, (समदकोकिलकण्ठनीलं) मदोन्मत्त, कोयलके कंठसमान काले, (क्रोधोद्धतं) क्रोधसे उद्धत हुए और (उत्फणं) उठाया है ऊपरको फण जिसने ऐसे (आपतन्तं) डसनेके लिये झपटते हुए (फणिनं) सांपको (निरस्तशङ्कः) शंकारहित अर्थात् निडर होकर (आक्रामति) उलंघन करता है, अर्थात् पांव देकर उसके ऊपरसे चला जाता है ।

भावार्थः—आपका नामस्मरण करनेवाले भक्तजनोंको भयङ्कर सर्पोंका भी कुछ भय नही होता है ॥ ४१ ॥

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

---

१ नेत्र । २ नागदमनी नामकी एक जड़ी होती है, जिससे सापके जहरका असर नहीं होता है ।

हय गय हजारों लरत करत, अपार नाद भयावने।
अस विकट सैन वली नृपनिकी, झुक रही हो सामने॥
संग्राममें, सो तुरत तुव, गुनगानसों नशि जात है।
ज्यों उदित दिनपतिके केरनसों, तमसमूह विलात है॥४२

अन्वयार्थौ—हे जिनेश्वर, (आजौ) संग्राममें(त्वत्कीर्त्तनात्) आपके नामका कीर्तन करनेसे (वलवताम्) वलवान् (भूपतीनाम्) राजाओंका (वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्) युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियोंकी गर्जनासे जिसमें भयानक शब्द हो रहे है, ऐसा (वलम् अपि) सैन्य भी (उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं) उदयको प्राप्त हुए सूर्यकी किरणोंके अग्रभागसे नष्ट हुए (तमः इव) अंधकारके समान (आशु) शीघ्र ही (भिदाम्) भिन्नताको—नाशको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थः—जैसे सूर्यके उदय होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आपके गुणोंका गान करनेसे राजाओंकी वड़ी २ सेनायें भी नष्ट हो जाती है॥ ४२॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्ज्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते॥४३॥

सिर गजनके वरछीनसों छिद, जहँ रुधिरधारा वहैं।
परि वेगमें तिनके तरनको, वीर वहु आतुर रहैं॥

---

१ गज—हाथी। २ किरणोंसे। ३ विलीन हो जाता है, नष्ट हो जाता है।

ऐसी विकट रनभूमिमें, दुर्जय, अरिनपै जय लहै।
तुव चरनपंकजवन मनोहर, जो सदा सेवत रहै ॥४३॥

अन्वयार्थौ—हे देव, (कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-वेगावतारतरणातुरयोधभीमे) बरछीकी नोकोंसे छिन्नभिन्न हुए हाथियोंके, रक्तरूपी जलप्रवाहके वेगमें पड़े हुए और उसे तैरनेके लिये आतुर हुए योद्धाओंसे जो भयानक हो रहा है, ऐसे (युद्धे) युद्धमें (त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः) आपके चरणकमल-रूपी वनका आश्रय लेनेवाले पुरुष (विजितदुर्जयजेयपक्षाः) नही जीता जा सकै, ऐसे भी शत्रुपक्षको जीतते हुए (जयं) विजयको (लभन्ते) प्राप्त करते है ।

भावार्थः—आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले भक्तजन बड़े भारी युद्धमें भी शत्रुको जीतकर विजयी होते है ॥ ४३ ॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति॥४४॥

भीषण मगरमच्छादिकनसों, है रह्यो जो क्षुभित है।
विकराल वड़वानल भयंकर, सदा जिहिमें जलत है ॥
अस जलधिकी लहरीनमें, जिनकी जहाजैं डगमगैं।
तुव नाम सुमरत हे जगतपति, ते तुरत तीरै लगैं ॥४४॥

अन्वयार्थौ—हे जगदाधार, (भवतः) आपके (स्मरणात्)

स्मरणकरनेसे (क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ) भीषण नक्र (मगर,) चक्र (घड़ियाल,) [1]पाठीन, और [2]पीठोंसे तथा भयंकर विकराल वडवाग्नि करके क्षुभित (अम्भोनिधौ) समुद्रमें (रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्राः) उछलती हुई तरंगोंके शिखरोंपर जिनके जहाज ठहरे हुए है, ऐसे पुरुष ([3]त्रासं विहाय) आकस्मिक भयके विना (व्रजन्ति) चले जाते हैं, अर्थात् पार हो जाते है।

भावार्थः—आपका नाम स्मरण करनेसे भयानक समुद्रमें पड़े हुए जहाजवाले भी पार हो जाते है ॥ ४४ ॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा
[3]मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः॥४५॥

भीषन जलोदर भारसों, कटि वंक जिनकी ह्वै गई।
अति शोचनीय दशा भई, आशा जियनकी तज दई ॥
ते मनुज तुव पद-कंज-रज,–रूपी सुधा-अभिरामसे।
निज तन परसि ह्वोवहिं अनूप, सुरूपवारे काम से ॥४५॥

अन्वयार्थौ—हे जिनराज, (उद्भूतभीषणजलोदरभार-

1–2 एक जातिकी मछलियाँ। ३ "त्रासस्त्वाकस्मिकभयं" इति हैमः ३ "सद्यो" भी पाठ है। ४ एक रोगविशेष होता है, जिससे पेट बड़ा हो जाता है।

भुग्नाः) उत्पन्न हुए भयानक जलोदर रोगके भारसे जो कुवड़े हो गये है, और (शोच्यां दशां) शोचनीय अवस्थाको (उपगताः) प्राप्त होकर (च्युतजीविताशाः) जीनेकी आशा छोड़ वैठे है ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृत-दिग्धदेहाः) तुम्हारे चरणकमलके रजरूप अमृतसे अपनी देह लिप्त करके, (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेवके समान सुन्दर रूपवाले (भवन्ति) हो जाते है।

भावार्थः—जैसे अमृतके लेपसे मनुष्य नीरोग और सुस्वरूप हो जाते है, उसी प्रकार आपके चरणकमलके रजरूपी अमृतके लेपसे (चरणोंकी सेवासे) जलोदर आदि रोगोंसे पीडित पुरुष भी कामदेवसरीखे रूपवान् हो जाते है ॥ ४५ ॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गाः
गाढं वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
[1]सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

[2]गुरु संकलनसों चरनतैं ले, कण्ठलगि जो किल रहे।
गाढ़ी वड़ी वेड़ीनसों, घसि जघन जिनके छिल रहे ॥
ते पुरुष प्रभु, तुव नामरूपी, मंत्रको जपिकैं सदा ।
तत्काल ही स्वयमेव वन्धन-, भयरहित होवहिं मुदा ॥४६॥

अन्वयार्थौ—(अनिशं आपादकण्ठम्–उरुशङ्खलवेष्टिताङ्गाः)

---

१ "नाथ" भी पाठ है । २ भारी ।

जिनके शरीर पांवसे लेकर गलेतक वड़ी २ संकलोंसे निरन्तर जकड़े हुए रहते है, और (गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः) वड़ी २ वेड़ियोंके किनारोंसे जिनकी जंघायें अत्यन्त छिल गई है, ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (त्वन्नाममन्त्रम्) तुम्हारे नामरूपी मंत्रको (स्मरन्तः) स्मरण करनेसे (सद्यः) तत्काल ही (स्वयं) आपसे आप (विगतबन्धभयाः) वन्धनके भयसे सर्वथा रहित (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थः—आपका स्मरण करनेसे कठिन कैदमें फँसे हुए जीव भी शीघ्र छूट जाते हैं ॥ ४६ ॥

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
सङ्ग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

मदमत्त गज मृगराज दावा-, नल समुद्र अपारको ।
संग्राम सांप तथा जलोदर, कठिन कारागारको ॥
भय-, स्वयं भयकरि तुरत ताको, भागि जावै नेमसों ।
यह आपकी विरदावली, वांचै सुधी जो प्रेमसों ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (मतिमान्) वुद्धिमान् (इमं) इस (तावकं) तुम्हारे (स्तवं) स्तोत्रको (अधीते) अध्ययन करता है, पढ़ता है, (तस्य) उसके (मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवा-

---

१ " तेऽनिशं " भी पाठ है।

नलाहिसङ्ग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्) मत्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, महोदर रोग, और बन्धन इन आठ कारणोंसे उत्पन्न हुआ (भयं) भय (भिया इव) डरकर ही मानो (आशु) शीघ्र ही (नाशं) नाशको (उपयाति) प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थः—ऊपर कहे हुए आठ तथा इनके सदृश और भी भय उस पुरुषसे डरकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते है, जो पुरुष इस स्तोत्रका निरन्तर पाठ किया करता है ॥ ४७ ॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्रगुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्[1] ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
तं मानतुङ्गमवशा[2] समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

हौं[3] गूंथि लायौ विरदमाला, नाथ, तुव गुनगननसों ।
वहु भक्तिपूरित रुचिर वरन, विचित्र सुन्दर सुमनसों ॥
यासों सदा सौभाग्यजुत, प्रेमी जो कंठ सिँगारि है ।
तिहि मानतुंग सुपुरुषको, कमला विवश उर धारि है ॥४८॥

अन्वयार्थौ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र, (इह) इस संसारमें

---

१ "विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्" भी पाठ है । २ "मानतुङ्गमिव सा" और "मानतुङ्गविधिना" ऐसा भी पाठ है, जिसका अर्थ "मानतुंगके समान वह लक्ष्मी" और "मानतुंगकी तरह" होता है । ३ मूलकी नाईं इस छन्दका भी दोनों पक्षमें अर्थ घटित होता है ।

(मया) मेरे द्वारा (भक्त्या[1]) भक्तिपूर्वक (गुणैः[2]) आपके अनन्तज्ञानादि गुणोंकरके (निबद्धां) गूंथी हुई और (रुचिरवर्ण-विचित्रपुष्पाम्[3]) मनोज्ञ अकारादि वर्णोंके यमक श्लेष अनुप्रासादिरूप विचित्र फूलोंवाली (तव) तुम्हारी इस (स्तोत्रस्रजं) स्तोत्ररूपी मालाको (यः) जो पुरुष (अजस्रं) सदैव (कण्ठगतां धत्ते) कठमें धारण करता है (तं) उस (मानतुङ्गं[4]) मानसे[5] ऊंचे अर्थात् आदरणीय पुरुषको (लक्ष्मीः) राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और सत्काव्यरूप लक्ष्मी (अवशा) विवश होकर (समुपैति) प्राप्त होती है ।

भावार्थः—जैसे पुष्पमालाके धारण करनेसे मनुष्यको शोभा (लक्ष्मी) प्राप्त होती है, उसी प्रकार इस स्तोत्ररूपी मालाके पहननेसे राज्य स्वर्गादि और परंपरासे मोक्षरूप लक्ष्मी प्राप्त होती है । 'अवशा' पद देनेका अभिप्राय यह है कि, उस लक्ष्मीको विवश होकर इस स्तोत्रके पठन अध्ययन करनेवाले पुरुषकी सेवामें आना ही पडता है ॥ ४८ ॥

इस स्तोत्रके अन्तमें जो 'पुष्पमाला' शब्द दिया गया है, सो अभीष्ट शकुनको सूचित करनेवाला है । इस कारण महोत्सव तथा आनन्दका देनेवाला है और लक्ष्मी शब्द मंगलवाची है; इस कारण इस स्तोत्रके पठन श्रवण अध्ययन करनेवालोंका अवश्य ही कल्याण होगा ।

इति श्रीआदिनाथस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

---

१ पुष्पमालाके पक्षमें, भक्तिका अर्थ "विचित्ररचनापूर्वक" होता है । २ पक्षमें–गुण अर्थात् सूतोंकरके । ३ पक्षमें—सुन्दर रगरगके विचित्र फूलोंवाली । ४ पक्षमें स्तोत्रकर्त्ता **श्रीमानतुङ्गसूरिको** । ५ **मान** अर्थात् विवेक करके **तुंग** अर्थात् ऊंचे ऐसा भी मानतुंगका अर्थ होता है ।

भाषाकारकी प्रार्थना ।

दोहा ।

मानतुंग अति तुंग कवि, पुनि तिन भक्ति उतंग ।
सप्तभंगिवानी गहन, उछरत विविध तरंग ॥ १ ॥

ताहूपै नानार्थमय, देववानि–विस्तार ।
सब प्रकार यों कठिन अति, जिन-गुन-विरदविचार ॥२॥

बिन प्रतिभा व्युत्पत्तिबिन, बिन अभ्यास कवित्त ।
कीन्हों केवल भक्तिवश, 'प्रेमी' करि इकचित्त ॥ ३ ॥

यामैं जो कछु न्यूनता, होवहि मूलविरुद्ध ।
सो सुधारि पढ़ि हैं सुजन, करि निजभावविशुद्ध ॥४॥

इति शुभम् ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः